



## आध्यात्मिक साधना का विकासक्रम : गुणस्थान

✽ देवेन्द्र मुनि शास्त्री

□

जैन श्वेताम्बर आगम साहित्य में कहीं भी गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। समवायांग में गुणस्थान के स्थान पर जीवस्थान शब्द आता है।<sup>1</sup> सर्वप्रथम गुणस्थान शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार'<sup>2</sup> तथा 'प्राकृत पंचसंग्रह'<sup>3</sup> व 'कर्मग्रन्थ'<sup>4</sup> में मिलता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में<sup>5</sup> जीवों को गुण कहा है। उनके अभिमतानुसार चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि की भावाभावजनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते हैं। परिणाम और परिणामी का अभेदोपचार करने से जीवस्थान को गुणस्थान कहा है। गोम्मटसार में गुणस्थान को जीव-समास भी कहा है।<sup>6</sup> षट्खण्डागम की धवलावृत्ति के अनुसार जीव गुणों में रहते हैं, एतदर्थ उन्हें जीव-समास कहा है। कर्म के उदय से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे औदयिक हैं। कर्म के उपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे औपशमिक हैं। कर्म के क्षयोपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे क्षायोपशमिक हैं। कर्म के क्षय से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे क्षायिक हैं। कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना जो गुण स्वभावतः पाया जाता है वह पारिणामिक है। इन गुणों के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है।<sup>7</sup> जीवस्थान को पश्चात्वर्ती साहित्य में इसी दृष्टि से गुणस्थान कहा गया है।

नेमिचन्द्र ने संक्षेप और ओघ ये दो गुणस्थान के पर्यायवाची माने हैं।<sup>8</sup>

कर्मग्रन्थ में जिन्हें चौदह जीवस्थान बताया है।<sup>9</sup> उन्हें ही समवायांग सूत्र में चौदह मूल-ग्राम की संज्ञा<sup>10</sup> प्रदान की गयी है। जिन्हें कर्मग्रन्थ में गुणस्थान कहा गया है उन्हें समवायांग में जीवस्थान कहा है। इस प्रकार कर्मग्रन्थ और समवायांग में संज्ञाभेद है।

समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्म विशुद्धि बताया गया है।<sup>11</sup> टीकाकार आचार्य अभयदेव ने भी गुणस्थानों को ज्ञानावरण प्रभृति कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न बताया है।<sup>12</sup> दिगंबर आचार्य नेमिचन्द्र का अभिमत है कि प्रथम चार गुणस्थान दर्शन-मोह के उदय आदि से होते हैं और आगे के गुणस्थान चारित्र-मोह के क्षयोपशम आदि से निष्पन्न होते हैं।<sup>13</sup>

जैनदर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा का सही स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय और परिपूर्ण सुखमय है। आत्मा अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य युक्त है। कर्मों ने उसके स्वरूप को विकृत या आवृत कर दिया है। जब कर्मावरण की घनघोर घटाएँ गहरी छा जाती हैं तब आत्म-ज्योति मन्द और मन्दतम हो जाती है, पर ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण छूटता है अथवा उसका बन्धन शिथिल होता है त्यों-त्यों उसकी शक्ति प्रकट होने लगती है। प्रथम गुणस्थान में आत्म-शक्ति का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है। अगले गुणस्थानों में वह प्रकाश अभिवृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त में चौदहवें गुणस्थान में आत्मा विद्युद्ध अवस्था में पहुँच जाता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये आत्म-शक्ति को आच्छादित करने वाले आवरण हैं। इन चार प्रकार के आवरणों में मोहनीय रूप आवरण मुख्य है। मोह की तीव्रता और मन्दता पर अन्य आवरणों की तीव्रता और मन्दता अवलम्बित है। एतदर्थ ही गुणस्थानों की व्यवस्थाओं में मोह की तीव्रता और मन्दता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

मोहनीयकर्म के दो मुख्य भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के उदय से



आत्मा यथार्थ श्रद्धान नहीं कर पाता। उसका विचार, चिन्तन और दृष्टि उसके कारण सम्यक् नहीं हो पाती। चारित्र-मोहनीय के कारण विवेक युक्त आचरण में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार मोहनीयकर्म के कारण न सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यक्चारित्र ही। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता।

### १. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

दर्शनमोहनीय के आधार पर ही प्रथम गुणस्थान का नाम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान रखा गया है। यह आत्मा की अधस्तम अवस्था है। इसमें मोह की अत्यधिक प्रबलता होती है जिससे उस व्यक्ति की आध्यात्मिक-शक्ति पूर्णरूप से गिरी हुई होती है। विपरीत दृष्टि (श्रद्धा) के कारण वह राग-द्वेष के बशीभूत होकर अनन्त आध्यात्मिक सुख से वंचित रहता है।

प्रथम गुणस्थान में दर्शन-मोह और चारित्र-मोह इन दोनों की प्रबलता होती है, जिससे वह आत्मा आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र है। प्रस्तुत भूमिका वाला व्यक्ति आधिभौतिक उत्कर्ष चाहे कितना भी कर ले, किन्तु उसकी सारी प्रवृत्तियाँ संसाराभिमुखी होती हैं, मोक्षाभिमुखी नहीं। जैसे दिग्भ्रमवाला मानव पूर्व को पश्चिम मानकर चलता है, किन्तु चलने पर भी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। मदिरा पिये हुए व्यक्ति को हिताहित का ध्यान नहीं रहता वैसे ही मोह की मदिरा से उन्मत्त बने हुए मिथ्यात्वी को हिताहित का भान नहीं होता।<sup>१८</sup>

मिथ्यात्व के अनेक भेद-प्रभेद बताये हैं। तत्त्वार्थभाष्य में अभिगृहीत और अनभिगृहीत ये दो मिथ्यात्व के भेद बताये हैं।<sup>१९</sup> आवश्यकचूर्ण<sup>१९</sup> और प्राकृत पंचसंग्रह में<sup>२०</sup> संशयित, आमिग्रहिक, अनाभिग्रहिक ये तीन मिथ्यात्व के भेद बताये हैं। गुणस्थान क्रमारोह की सोपज्ञवृत्ति में<sup>२१</sup> एवं कर्मग्रन्थ में आमिग्रहिक<sup>२२</sup> अनाभिग्रहिक, आमिनिवेशिक, संशय और अनाभोगिक ये पाँच मिथ्यात्व के भेद बताये हैं। धर्मसंग्रह,<sup>२३</sup> कर्मग्रन्थ<sup>२४</sup> व लोकप्रकाश<sup>२५</sup> में उनका परिचय दिया गया है। संक्षेप में सारांश इस प्रकार है।

#### आमिग्रहिक—

बिना तत्त्व की परीक्षा किये किसी एक बात को स्वीकार कर दूसरों का खण्डन करना यह आमिग्रहिक मिथ्यात्व है। जो साधक स्वयं परीक्षा करने में असमर्थ है, किन्तु परीक्षक की आज्ञा में रहकर तत्त्व को स्वीकार करते हैं जिस प्रकार 'माषतुष मुनि' उनको आमिग्रहिक मिथ्यात्व नहीं लगता।

#### अनाभिग्रहिक—

बिना गुणदोष की परीक्षा किये ही सभी मन्तव्यों को एक ही समान समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व उन जीवों में होता है जो परीक्षा करने में असमर्थ तथा मन्दबुद्धि हैं, जिससे वे किसी भी मार्ग में स्थिर नहीं रह सकते।

#### आमिनिवेशिक—

अपने पक्ष को असत्य समझ करके भी उस असत्य को छोड़ना नहीं अपितु उस असत्य से चिपका रहना, आमिनिवेशिक मिथ्यात्व है। इसी का अपर नाम एकान्त-मिथ्यात्व भी है।

#### संशय—

देव, गुरु और धर्म तत्त्व के स्वरूप में संशय रखना संशय-मिथ्यात्व है। आगमों के गुरु-गम्भीर रहस्यों को समझने में कमी-कमी गीतार्थ श्रमण भी यह विचारने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यह समीचीन है या वह समीचीन है? किन्तु अन्त में निर्णायक स्थिति न हो तो जिनेश्वर देव ने जो कहा है वही पूर्ण सत्य है, यह विचार कर जिन प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। केवल संशय या शंका हो जाना संशय-मिथ्यात्व नहीं है। किन्तु जो तत्त्व-अतत्त्व आदि के सम्बन्ध में डोलायमान चित्त रखते हैं उन्हें संशय-मिथ्यात्वी कहा है।

#### अनाभोगिक—

विचार और विशेष ज्ञान का अभाव, अर्थात् मोह की प्रबलतम अवस्था, यह अनाभोगिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवों में होता है।

इन पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों में एक अनामोगिक मिथ्यात्व अव्यक्त है शेष चारों मिथ्यात्व व्यक्त हैं।<sup>२३</sup>  
अपेक्षा दृष्टि से मिथ्यात्व के दस भेद भी बनते हैं। ये इस प्रकार हैं—

- (१) अधर्म में धर्मसंज्ञा
- (२) धर्म में अधर्मसंज्ञा
- (३) अमार्ग में मार्गसंज्ञा
- (४) मार्ग में अमार्गसंज्ञा
- (५) अजीव में जीवसंज्ञा
- (६) जीव में अजीवसंज्ञा
- (७) असाधु में साधुसंज्ञा
- (८) साधु में असाधुसंज्ञा
- (९) अमुक्त में मुक्तसंज्ञा
- (१०) मुक्त में अमुक्तसंज्ञा

यह दस प्रकार के मिथ्यात्व व्यक्त हैं। शब्दों के परिवर्तन के साथ बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में भी मिथ्यात्व का निरूपण किया गया है जो अधर्म को धर्म, अविनय को विनय, अमाषित को भाषित, अनाचीर्ण को आचीर्ण, आचीर्ण को अनाचीर्ण, अप्रज्ञत्व को प्रज्ञत्व, और प्रज्ञत्व को अप्रज्ञत्व कहते हैं, जो बहुत व्यक्तियों के लिए अहितकर्ता, असुखकर्ता और अनर्थ को उत्पन्न करने वाले होते हैं। वे पापों का उपार्जन कर सद्वर्तन का लोप करते हैं। वे अकुशलधर्म का संचय करते हैं और कुशलधर्म का नाश करते हैं।<sup>२४</sup>

दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र ने एकांस्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान ये पाँच मिथ्यात्व के भेद बताये हैं।<sup>२५</sup> धवला में कहा है कि मिथ्यात्व के ये पाँच ही भेद हैं ऐसा नियम नहीं है, जो पाँच भेद कहे गये हैं वे केवल उपलक्षण मात्र हैं।<sup>२६</sup>

आगम साहित्य में बिलखे हुए सभी मिथ्यात्वों को एकत्रित करने पर पच्चीस मिथ्यात्व होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अभिगृहीत (२) अनभिगृहीत (३) आमिनिवेशिक (४) संशयित (५) अनामोगिक (६) लौकिक (७) लोकोत्तर (८) कृप्रावचनिक (९) अविनय (१०) अक्रिया (११) अशातना (१२) आउया (आत्मा को पुण्य-पाप नहीं लगता) (१३) जिनवाणी की न्यून प्ररूपणा (१४) जिनवाणी की अधिक प्ररूपणा (१५) जिनवाणी से विपरीत प्ररूपणा (१६) धर्म को अधर्म (१७) अधर्म की धर्म (१८) साधु को असाधु (१९) असाधु को साधु (२०) जीव को अजीव (२१) अजीव को जीव (२२) मोक्षमार्ग को संसारमार्ग (२३) संसार मार्ग को मोक्षमार्ग (२४) मुक्त को अमुक्त (२५) अमुक्त को मुक्त कहना। तथ्य यह है कि यों मिथ्यात्व के अनेक भेद हो सकते हैं जिनकी परिगणना करना भी सम्भव नहीं है।

जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या अय नहीं हो जाता तब तक कोई भी जीव प्रथमगुणस्थान छोड़ नहीं सकता। इन प्रकृतियों के उदयभाव में प्रथम गुणस्थान है, अर्थात् मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीय का उदय जब तक जीव में बना रहता है तब तक वह मिथ्यात्वी बना रहता है।

काल की दृष्टि से प्रथम गुणस्थान के तीन रूप बनते हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त।<sup>२७</sup> प्रथम रूप के अधिकारी अमव्य जीव अथवा जाति-मव्य (मव्य होने पर भी जो जीव कभी मुक्त नहीं होते), जीव होते हैं। द्वितीय रूप उन जीवों की अपेक्षा से है, जो अनादिकालीन मिथ्या-दर्शन की गाँठ को खोलकर सम्यक्दृष्टि बन सकते हैं। तृतीय रूप उनकी अपेक्षा से है, जिन्होंने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, किन्तु फिर से मिथ्यात्वी हो गए हैं। प्रथम गुणस्थान की आदि तभी होती है जब कोई जीव सम्यक्त्व से गिरकर पुनः प्रथम गुणस्थान में आ जाय। जिस जीव को एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी है वह निश्चय ही मोक्षगामी है। जिस जीव के मिथ्यात्व की आदि हो गयी उसका अन्त अवश्यम्भावी है।

आठों कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। उनमें से एक समय में बंधने योग्य १२० हैं। शेष २८



का बन्ध न होने के कारण यह है कि वर्णादि चतुष्क के उत्तरभेद जो बीस बताये गये हैं उनमें से एक जीव एक समय में वर्णपंचक में से किसी एक वर्ण का, रसपंचक में से किसी एक रस का, गन्धद्वय में से किसी एक गन्ध का, और स्पर्शाष्टक में से किसी एक स्पर्श का ही बन्ध करता है, अवशेषों का बन्ध नहीं करता। इसलिए सोलह प्रकृतियाँ वर्णचतुष्क की नहीं बंधती और पाँच बन्धन तथा पाँच संघात का अन्तर्भाव पाँच शरीरों में कर लिया जाता है। अतः इन दस का भी बन्ध नहीं होता। दर्शन मोहनीय की अनादि मिथ्यात्वी में एक मिथ्यात्वी की ही सत्ता रहती है। उनके तीन भेद तो सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् होते हैं। अतः मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन दोनों का भी बन्ध नहीं होता। इस प्रकार (१६+५+५+२=२८) ये अट्ठाईस प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य न होने से इनको एक सौ अड़तालीस में से कम करने पर शेष एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गयी हैं। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि सादि मिथ्यादृष्टि के दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों की सत्ता हो जाती है और उनमें से सम्यक् प्रकृति का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है, अतः इन दोनों प्रकृतियों को एक सौ बीस में मिला देने पर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ उदय-योग्य कही गयी हैं। उनमें भी मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बन्ध करता है। उक्त प्रकृतियों को छोड़ने का कारण यह है कि तीर्थकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वी जीव ही करता है और आहारक द्विक का बन्ध अप्रमत्त साधु करता है।

आहारक अंगोपांग नामकरण आदि प्रकृतियों का बन्ध भी प्रथम गुणस्थान में नहीं होता।<sup>२९</sup>

उदय प्रायोग्य एक सौ बाईस कर्म प्रकृतियों में से पाँच प्रकृतियों के अतिरिक्त सभी प्रकृतियाँ प्रथम गुणस्थान में उदय आती है। अनुदयशील पाँच प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मिश्रमोहनीय, (२) सम्यक्त्व मोहनीय, (३) आहारक शरीर, (४) आहारक अंगोपांग और (५) तीर्थकर नामकरण। इन पाँचों प्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय का उदय क्षायोपशामिक सम्यक्त्व की विद्यमानता में चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक रहता है। आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थानवर्ती आहारकलब्धिवाले संयती में होता है, अन्य में नहीं। तीर्थकर नामकरण का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है जो अनादि मिथ्यादृष्टि है उनके सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रकृति के बिना एक सौ छियालीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है और सादि मिथ्यादृष्टि के उक्त दोनों का सद्भाव हो जाने के कारण उसमें एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है।

उक्त मिथ्यादृष्टि जीव के उदय में आने वाली कर्मप्रकृतियों में से जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का तीव्र उदय रहता है तब तक उस जीव का आकर्षण आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की ओर नहीं होता। जब उसका मन्दोदय होता है उसके साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि शेष कर्मों का भी मन्दोदय होता है और सभी कर्मों की उत्कृष्ट सप्त-स्थिति न्यून होकर एक कोटा-कोटि सागरोपम के अन्तर्गत होती है तथा इसी अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण वाले नवीन कर्म का बन्ध होता है तब वह जीव आत्म-स्वरूप को पाने के लिए उत्सुक होता है। उस समय में जीव के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उन्हें शास्त्रीय भाषा में 'करण' कहा है।<sup>३०</sup> करण के तीन प्रकार हैं—(१) यथाप्रवृत्तिकरण (अधः प्रवृत्तिकरण) (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण।

यथाप्रवृत्तिकरण से जीव राग-द्वेष की ऐसी गाँठ जो कर्कश, दृढ़ और रेशम की गाँठ के समान है, जिसका भेदन सहज नहीं है, वहाँ तक आता है, किन्तु उस गाँठ को भेद नहीं सकता। इसी को जैन-कर्मसाहित्य में ग्रन्थि-देश की प्राप्ति कहा है, अभव्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकता है। अर्थात् कर्मों की बहुत लम्बी स्थिति को न्यून कर अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकता है। किन्तु वह राग-द्वेष की दुर्मेघ ग्रन्थि का भेदन कदापि नहीं कर सकता।<sup>३१</sup>

भव्य जीव के यह यथाप्रवृत्तिकरण एक अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और प्रतिसमय वह उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होता है। उसके पश्चात् वह अपूर्वकरण अर्थात् विशुद्धि के अनन्त गुणितक्रम से बढ़ने पर उन अपूर्व परिणामों को प्राप्त करता है जो इसके पूर्व संसारी अवस्था में कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। उस समय में जीव प्रतिसमय उत्तरोत्तर अल्पस्थितिवाले कर्मों का बन्ध करता है। और कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित क्रम से निर्जरा करता है। इस समय आत्मा के अन्दर और भी अनेक सूक्ष्मक्रियाएँ प्रारंभ होती हैं। उनके द्वारा जीव उत्तरोत्तर विशुद्ध एवं कर्म भार से हलका होता जाता है। इसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण का प्रारंभ होता है। इस करण के समय भी जीव के विशुद्धि आदि अपूर्वकरण से भी अत्यधिक मात्रा में सम्पन्न होती हैं। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की स्थिति में से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं और एक भाग मात्र अवशेष रहता है उस समय अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग जिसमें अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्य प्रकार हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा उसके अन्तिम भाग का अन्तर्मुहूर्त जिसको अन्तर-करण-क्रिया-काल कहते हैं, लघु होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग में अन्तर-करण की क्रिया होती है। इसका सारांश यह है कि अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है उसके उन दलिकों को जो कि अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले हैं, उन्हें आगे-पीछे करना। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के जितने दलिक उदय में आने वाले हों उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक उदय में आने वाले दलिकों को रखा जाता है और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उदय में आनेवाले दलिकों के साथ मिला देते हैं जिससे अनिवृत्तिकरण के पश्चात् का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ऐसा होता है कि जिसमें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का दलिक किञ्चित् मात्र भी नहीं रहता। अतः जिस नवीन बन्ध का अबाधाकाल पूर्ण हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है जो अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक उदयमान रहता है। और दूसरा भाग वह है जो अनिवृत्तिकरण के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत होने पर उदय में आता है। इन दो भागों में से प्रथम भाग को मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति और द्वितीय भाग को द्वितीय स्थिति कह सकते हैं। जिस समय में अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है अर्थात् उदय-योग्य दलिकों का निरन्तर व्यवधान किया जाता है उस समय से अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक पूर्व बताये हुए दो भागों में से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय पूर्ण हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता चूँकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है वे सभी दलिक अन्तरकरण क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व का उदय रहता है। इसीलिए उस समय तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण का समय पूर्ण होने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व उपलब्ध होता है। उस समय मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार का उदय नहीं होता जिससे जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है और वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहता है। जिस प्रकार एक जन्मान्ध व्यक्ति को नेत्रज्योति प्राप्त होने पर उसे अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है वैसे ही जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल उपशान्ताद्धा या अन्तरकरण काल कहलाता है। प्रथम स्थिति के अन्तिम समय में अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है जो उपशान्ताद्धा के पूर्ण हो जाने के पश्चात् उदय में आनेवाला है। जैसे कोद्रव नामक धान्य विशेष प्रकार की औषधी से साफ करते हैं तब उसका एक भाग इतना निर्मल हो जाता है कि उसके खाने वाले को उसका नशा नहीं आता; दूसरा भाग कुछ साफ होता है कुछ साफ नहीं होता, वह अर्धशुद्ध कहलाता है; और कोद्रव का कुछ भाग बिलकुल ही अशुद्ध रह जाता है जिसको खाने से नशा आ जाता है। इसीतरह द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के तीन पुञ्जों में से एक पुञ्ज तो इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्वघातक रस का अभाव हो जाता है। द्वितीय पुञ्ज अर्धशुद्ध होता है। और तृतीय पुञ्ज अशुद्ध होता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक पुञ्ज जीव के परिणाम के अनुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्ध परिणामी ही रहे तो शुद्ध पुञ्ज उदय में आता है। शुद्ध पुञ्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो नहीं होता किन्तु उस समय जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है वह क्षायोपशमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम पूर्ण शुद्ध नहीं रहा और न अशुद्ध ही रहा उस मिश्रस्थिति में अर्धविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है। उस समय जीव तृतीय गुण-स्थानवर्ती कहलाता है। यदि परिणाम पूर्ण अशुद्ध ही रहा तो अशुद्ध पुञ्ज उदय में आयेगा। अशुद्ध पुञ्ज के उदय होने पर जीव पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा, जिसमें जीव निर्मल स्थिति में होता है उसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिकाएँ जब शेष रह जाती हैं तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव को विघ्न उपस्थित होता है। उसकी निर्मल अवस्था में बाधा उत्पन्न होती है; क्योंकि उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर जीव सम्यक्त्व परिणाम का परित्याग कर मिथ्यात्व की ओर बढ़ता है। जब तक वह मिथ्यात्व



को नहीं पा लेता तब तक वह सासादनभाव का अनुभव करता है। इसलिए उस जीव को सास्वादन-सम्यक्दृष्टि कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में जितना काल शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी किसी एक कषाय के उदय से वह उपशमसम्यक्त्व से गिरता है उतने ही (एक समय से लेकर छह आवलिका) समय तक वह सासादनसम्यक्दृष्टि नामक दूसरे गुणस्थान में रहता है। उक्त काल के पूर्ण होते ही मिथ्यात्व कर्म का उदय हो जाता है और वह प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होकर मिथ्यादृष्टि बन जाता है।<sup>32</sup>

## २. सास्वादन सम्यक्दृष्टि

द्वितीय गुणस्थान का नाम सास्वादनसम्यक्दृष्टि है। प्राकृत भाषा में "सासायण" शब्द है। उसके संस्कृत दो रूप मिलते हैं—सास्वादन और सासादन। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् मिथ्यात्वामिमुख जीव के सम्यक्त्व का आंशिक आस्वादन शेष रहता है। उसकी अवस्था को सास्वादन गुणस्थान कहा है।<sup>33</sup>

औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होता हुआ जीव सम्यक्त्व का आसादन (विराधन) करता है एतदर्थ उसे सासादन कहा गया है।<sup>34</sup> यह प्रतिपाती सम्यक्त्व की अवस्था है। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व से नीचे गिरता है।<sup>35</sup> किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय का जब तक उदय न हो तब तक वह मिथ्यादृष्टि नहीं है, अर्थात् वह द्वितीय गुणस्थानवर्ती है। इसका उत्कृष्ट कालमान छह आवलिका मात्र है। जैसे किसी ने खीर का भोजन किया और तत्काल किसी कारणवश वमन हो गया, उसमें खीर निकल गयी। पर खीर का आस्वादन कुछ समय के लिए अवश्य रहता है। यह स्थिति प्रस्तुत गुणस्थान की है। सम्यक्त्व की खीर का तो वमन हो गया, किन्तु कुछ आस्वादन बने रहने से इसे सास्वादन कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना होने से यह सासादन सम्यक्त्वी भी कहलाता है।

यद्यपि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव पतनोन्मुख है, तथापि मिथ्यात्वमोहनीय के निमित्त से बंधने वाली सोलह प्रकृतियों का उसके बन्धन नहीं होता, अर्थात् जहाँ मिथ्यात्वी एक सौ सत्रह कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है वहाँ सास्वादन सम्यक्दृष्टि जीव निम्नलिखित कर्मप्रकृतियों के बिना एक सौ एक कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है—वे सोलह इस प्रकार हैं—(१) नरकगति (२) नरकायु (३) नरकानुपूर्वी (४) एकेन्द्रिय जाति (५) द्वीन्द्रिय जाति (६) त्रीन्द्रिय जाति (७) चतुरिन्द्रिय जाति (८) स्थावर नामकर्म (९) सूक्ष्म नामकर्म (१०) अपर्याप्त नामकर्म (११) साधारण नामकर्म (१२) आतप नामकर्म (१३) हुण्डक संस्थान नामकर्म (१४) सेवार्त संहनन नामकर्म (१५) मिथ्यात्व (१६) नपुंसक वेद।<sup>36</sup>

## ३. सम्यक्मिथ्यादृष्टि

जिसकी दृष्टि मिथ्या और सम्यक् दोनों परिणामों से मिश्रित है वह सम्यक्मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि कहलाता है।<sup>37</sup>

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक्दृष्टि जीव ने उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के समय जो मिथ्यात्वमोहनीय के तीन खण्ड किये थे उनमें से भिन्न अर्थात् सम्यक्त्वमिश्र प्रकृति के उदय आने पर वह चतुर्थ गुणस्थान से गिरता है और तृतीय गुणस्थानवर्ती हो जाता है। इस जीव के परिणाम मिश्रप्रकृति के उदय होने से न केवल सम्यक्त्वरूप ही रहते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप ही; किन्तु दोनों के मिले हुए परिणाम रहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो इस जीव को न जिनोक्त वाणी पर श्रद्धा होती है और न अश्रद्धा ही। जैसे दही और मिश्री के मिश्रण से निर्मित हुए श्रीखण्ड का स्वाद न केवल दहीरूप होता है न मिश्रीरूप होता है। किन्तु दोनों के स्वाद से पृथक् तृतीय खट्टमिट्ठा स्वाद होता है।<sup>38</sup> इसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव के सम्यक्त्वमिथ्यात्व के सम्मिश्रणरूप एक भिन्न ही प्रकार का परिणाम होता है, जो परिणाम प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानों के परिणामों से पृथक् है। अतएव उन गुणस्थानों की अपेक्षा इसे एक स्वतन्त्र गुणस्थान माना गया है। इस गुणस्थान का काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है।<sup>39</sup> इसके पूर्ण होने पर यह जीव ऊपर चढ़कर सम्यक्दृष्टि भी बन सकता है या नीचे गिरकर मिथ्यात्वी भी हो सकता है।

इस गुणस्थान में एक विलक्षण अवस्था रहती है। अतः इस गुणस्थान में न आयुष्य का बन्ध होता है, न मरण ही होता है। अतः इस गुणस्थान को अमर गुणस्थान भी कहा गया है।<sup>40</sup>

दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र के अभिमतानुसार तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकलसंयम या देव-संयम को ग्रहण नहीं करता और न इस गुणस्थान में आयुकर्म का बन्ध ही होता है। यदि इस गुणस्थानवाला जीव मरता है तो नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों को प्राप्त करके ही मरता है। किन्तु इस गुणस्थान में मरता नहीं है।<sup>११</sup> अर्थात् तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव ने तृतीय गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप जिस जाति के परिणाम में आयुकर्म का बन्ध किया हो उन्हीं परिणामों के होने पर उसका मरण होता है। किन्तु मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता और न इस गुणस्थान में मारणांतिक समुद्घात<sup>१२</sup> ही होता है।<sup>१३</sup>

दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा तीसरे गुणस्थान में एक विशेषता है कि दूसरे गुणस्थान में केवल अपक्रांति ही होती है किन्तु तृतीय गुणस्थान में अपक्रांति या उत्क्रांति दोनों होती हैं। कोई आत्मा मिथ्यादर्शन को छोड़कर सीधा इस अवस्था को प्राप्त होता है, अतः पूर्व की अपेक्षा यह उत्क्रान्ति स्थान कहलाता है। और जो आत्मा अधःपतनोन्मुख होता है तो चतुर्थ गुणस्थान से वह इस अवस्था को प्राप्त होता है, अतः वह अपक्रांति स्थान है। यहाँ यह रहस्य भी समझना आवश्यक है कि जो आत्मा सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़ता है वह आत्मा चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श करता है और चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थबोध को प्राप्त कर पुनः पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करता है, उस समय अपक्रांति काल में तृतीय गुणस्थान को भी स्पर्श कर सकता है और जिस आत्मा ने एक बार चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श लिया है और पुनः मिथ्यात्वी बन गया वह आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श करने की स्थिति में तृतीय गुणस्थान को स्पर्श कर सकता है। क्योंकि संशय उसे हो सकता है, जिसने यथार्थता का कुछ अनुभव किया हो। यह एक अनिश्चय की अवस्था है जिसमें साधक यथार्थता के बोध के पश्चात् संशयावस्था को प्राप्त हो जाने से वह सत्य और असत्य के बीच झूलता रहता है। वह सत्य और असत्य में से किसी एक का चुनाव न कर अनिर्णय की अवस्था में रहता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृतीय गुणस्थान की स्थिति का चित्रण हम इस प्रकार कर सकते हैं। प्रस्तुत अवस्था पाशविक एवं वासनात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली अबोधात्मा तथा आदर्श एवं मूल्यात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला नैतिक मन (आदर्शात्मा) के मध्य संघर्ष की अवस्था है, जिसमें बोधात्मा निर्णय न ले पाता और निर्णय को कुछ समय के लिए स्थगित कर देता है। यदि बोधात्मा (Ego) वासना का पक्ष लेता है तो व्यक्ति भोगमय जीवन को अपनाता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि चेतन मन आदर्श एवं नैतिक मूल्यों का पक्ष लेता है तो व्यक्ति आदर्श की ओर झुकता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है जिसमें मानव की पाशविक वृत्ति एवं आध्यात्मिक वृत्ति के बीच संघर्ष चलता है। यदि आध्यात्मिक वृत्ति की जीत हुई तो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करके यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है। यदि पाशविक वृत्ति विजयी हुई तो व्यक्ति वासनाओं के प्रबल आवेगों के कारण यथार्थ दृष्टिकोण से वंचित होकर पतित होता है और प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है। नैतिक प्रगति की दृष्टि से देखा जाय तो यह तीसरा गुणस्थान भी अविास की अवस्था ही है क्योंकि जब तक यथार्थबोध का सम्यक् विवेक जागृत न होता तो व्यक्ति नैतिक शुभाचरण नहीं कर पाता है। इस तीसरे गुणस्थान में शुभ-अशुभ के बारे में अनिश्चितता या संदेहशीलता की स्थिति होती है अतः इसमें नैतिक शुभाचरण की सम्भावना नहीं है। गीता में भी वीर अर्जुन के अन्तर्मानस में जब संशयात्मक स्थिति समुत्पन्न हुई तो श्रीकृष्ण ने उस स्थिति के निराकरण हेतु उसे उपदेश दिया कि यह संशयात्मक स्थिति उचित नहीं है।

प्रस्तुत गुणस्थान में ७४ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। (१) तीर्थंकर नामकर्म (२) आहारक शरीर (३) आहारक अंगोपांग (४) नरक त्रिक (५) तिर्यञ्च त्रिक (६) चार जाति (७) स्थावर (८) सूक्ष्म (९) अपर्याप्त (१०) साधारण (११) समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान (१२) वज्रऋषमनाराच संहनन को छोड़कर शेष पाँच संहनन (१३) आतप (१४) उद्योत (१५) स्त्रीवेद (१६) नर्पुंसकवेद (१७) मिथ्यात्व-मोहनीय (१८) अनन्तानु-बन्धी चतुष्क (१९) स्त्यानर्द्धि त्रिक (२०) दुर्भंग त्रिक (२१) नीच गोत्र (२२) अशुभविहायोगति (२३) मनुष्य आयु (२४) देवायु इस प्रकार ४६ प्रकृतियों को छोड़कर एक सौ बीस प्रकृतियों में से ७४ प्रकृति को बांधता है।<sup>१४</sup>

#### ४. अबिरति सम्यग्दृष्टि

सम्यक्दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा में विवेक की ज्योति जागृत हो जाती है। वह आत्मा और अनात्मा के अन्तर को समझने लगता है। अभी तक पर-रूप में जो स्वरूप की भ्रान्ति थी वह दूर हो जाती है। उसकी गति अतथ्य



से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोध से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर हो जाती है। उसका संकल्प उर्ध्वमुखी और आत्मलक्ष्यी हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दर्शनमोह के परमाणुओं के विलय होने से होती है। दर्शनमोह के परमाणुओं का विलय ही इस दृष्टि की प्राप्ति का हेतु है। वह विलय निसर्गजन्य और आधिगमिक (ज्ञान-जन्य) दोनों प्रकार से होता है। नैसर्गिक सम्यग्दर्शन बाहरी किसी भी प्रकार के कारण के बिना अन्तरंग में दर्शनमोहनीय के उपशमादि से होने वाले सम्यक्त्व को कहते हैं। आधिगमिक सम्यग्दर्शन अन्तरंग में दर्शनमोह के उपशमादि होने पर बाहरी अध्ययन, पठन, श्रवण तथा उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण पैदा होता है, वह है। दोनों में दर्शनमोह का विलय मुख्य रूप से रहा हुआ है। यह भेद केवल बाहरी प्रक्रिया से है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के तीन कारण हैं—

१. दर्शन-मोह के परमाणुओं का पूर्ण रूप से उपशमन होना।
२. दर्शन-मोह के परमाणुओं का अपूर्ण विलय होना।
३. दर्शन-मोह के परमाणुओं का पूर्ण विलय होना।

इन तीनों कारणों में से प्रथम कारण से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक है। दूसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायोपशमिक है और तीसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

औपशमिक सम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाला होता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग पुनः उभर आता है, इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किये हुए दर्शन-मोह के परमाणु काल मर्यादा समाप्त होते ही पुनः सक्रिय हो जाते हैं। किञ्चित् समय के लिए जो सम्यग्दर्शनी बना, वह पुनः मिथ्यादर्शनी बन जाता है। बीमारी के कीटाणुओं को निर्मूल नष्ट करने वाला सदा के लिए पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। उन कीटाणुओं का शोधन करने वाला भी उनसे ग्रस्त नहीं होता किन्तु उन कीटाणुओं को दवाने वाला प्रतिक्षण खतरे में रहता है। औपशमिक सम्यग्दर्शनी भी तृतीय कोटि के समान है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में साधक कभी सम्यक् मार्ग से पराङ्मुख भी हो सकता है। इसकी तुलना बौद्ध स्थविरवादी श्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है। श्रोतापन्न साधक भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह मार्ग से च्युत और पराङ्मुख हो सकता है। महायानी बौद्ध वाङ्मय में इस अवस्था की तुलना बोधि-प्रणिधिचित्ति से कर सकते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि आत्मा यथार्थ को जानता है और उस पर चलने की भव्य भावना भी रखता है, किन्तु उस पर चल नहीं सकता, वैसे ही बोधिप्रणिधिचित्ति में भी यथार्थ मार्ग और लोक-परित्राण की भावना होने के बावजूद भी वह मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता। योगबिन्दु में आचार्य हरिभद्र ने सम्यग्दर्शन प्राप्त साधक की तुलना महायान के बोधिसत्व से भी की है।<sup>१३</sup> बोधिसत्व का सामान्य अर्थ है ज्ञान प्राप्ति का जिज्ञासु साधक।<sup>१४</sup> इस दृष्टि से उसकी तुलना सम्यग्दृष्टि के साथ हो सकती है। यदि बोधिसत्व का विशिष्ट अर्थ, लोक-कल्याण की मंगलमय भावना को दृष्टि में रखकर तुलना करें तो भी हो सकती है क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान वाला साधक तीर्थकर नामकर्म का भी उपार्जन कर सकता है।<sup>१५</sup>

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव देव-गुरु-संघ की सद्भक्ति करता है, शासन की उन्नति करता है, अतः वह शासन प्रभावक श्रावक कहा जाता है।<sup>१६</sup>

चतुर्थ गुणस्थान में ७७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। तृतीय गुणस्थान में जो ४६ कर्म प्रकृतियाँ नहीं बाँधता है उनमें से मनुष्यआयु, देवायु और तीर्थकर नामकर्म इन कर्मप्रकृतियों को कम कर देना चाहिए। अर्थात् ४३ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करता है। शेष ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।<sup>१७</sup>

जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है पर जिसमें व्रत की योग्यता प्राप्त नहीं होती उसे अविरति सम्यग्दृष्टि कहा गया है। दिग्म्बर आचार्य भूतबलि व नेमिचन्द्र ने अविरतसम्यग्दृष्टि के स्थान पर असंयतसम्यग्दृष्टि शब्द का प्रयोग किया है।<sup>१८</sup>

चतुर्थ गुणस्थान में रहे हुए जीव का दृष्टिकोण समीचीन होता है किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वह इन्द्रिय आदि विषयों से और हिंसा आदि पापों से विरत नहीं हो सकता।<sup>१९</sup>



## ५. देशविरति

देशविरतसम्यग्दृष्टि नामक पाँचवें गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मशक्ति और विकसित होती है। वह पूर्ण-रूप से तो सम्यक्चारित्र की आराधना नहीं कर पाता किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है। इस गुणस्थान में जो व्यक्ति है उन्हें जैन आचार शास्त्रों में उपासक और श्रावक कहा है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है आंशिक चारित्र की साधना।

दिग्विरति, भोगोपभोगविरति और अनर्थदण्डविरति—ये तीनों गुणव्रत हैं। ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक हैं, एतदर्थ इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य हैं, एतदर्थ इन्हें शिक्षाव्रत कहा गया है। इन व्रतों का अधिकारी देशव्रती श्रावक कहलाता है।

देशविरति को आगमों में विरताविरत भी कहा गया है। षट्खण्डागम में इसे संयतासंयत लिखा है।<sup>५२</sup>

विरताविरत जीव त्रस जीवों की हिंसा से विरत हो जाता है किन्तु स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं हो पाता।<sup>५३</sup>

इस गुणस्थान में एकादश प्रतिमाओं का भी आराधन किया जाता है।<sup>५४</sup> प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष अथवा अभिग्रहविशेष है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ न्यून करोड़ पूर्व वर्ष की है।

पाँचवें गुणस्थान में ६७ कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं। चतुर्थ गुणस्थान में जो ७७ कर्म प्रकृतियाँ बँधती हैं, उनमें से निम्न दस कर्म प्रकृतियाँ इस गुणस्थान में नहीं बँधती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) वज्रऋषभनाराच संहनन (२) मनुष्य त्रिक (मनुष्यजाति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु) (३) अप्रत्याख्यानी कषायचतुष्क (४) औदारिक शरीर (५) और औदारिक अंगोपांग।<sup>५५</sup>

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएँ मुनि जीवन की हैं।

## ६. प्रमत्तसंयत

छठे गुणस्थान में साधक कुछ और आगे बढ़ता है। वह देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। वह पूर्णरूप से सम्यक्चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। अतः उसका व्रत अणुव्रत नहीं किन्तु महाव्रत है। उसका हिंसा का त्याग अपूर्ण नहीं, पूर्ण होता है। अणु नहीं महान् होता है। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस अवस्था में रहे हुए साधक का चारित्र पूर्ण विभूत होता ही है। यहाँ पर प्रमाद की सत्ता रहती है। अतएव इस गुणस्थान का नाम प्रमत्तसंयत रखा गया है। गोम्मटसार में प्रमाद के पन्द्रह भेद बताये हैं।<sup>५६</sup>

(१) चार विकथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा, राजकथा, (५) चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, (६) पाँच इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, (१४) निद्रा और (१५) प्रणय—स्नेह।

साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे भी गिर सकता है और ऊपर भी चढ़ सकता है।

छठे गुणस्थान में तिरेसठ (६३) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। पाँचवें गुणस्थान में सड़सठ (६७) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से प्रत्याख्यानी चतुष्क का इस गुणस्थान में बन्ध नहीं होता।<sup>५७</sup>

प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति कर्मस्तव<sup>५८</sup>, योगशास्त्र<sup>५९</sup>, गुणस्थान क्रमारोह<sup>६०</sup> सर्वार्थसिद्धि<sup>६१</sup> आदि ग्रन्थों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त लिखी है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् प्रमत्तसंयती एक बाद अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पहुँचता है और वहाँ भी अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहकर पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आ जाता है। यह चढ़ाव और उतार देशोनकोटिपूर्व तक होता रहता है, अतएव छठे और सातवें दोनों गुणस्थान की स्थिति मिलकर देशोन करोड़ पूर्व की है।<sup>६२</sup>



भगवती सूत्र में मंडितपुत्र ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवन्, प्रमत्तसंयत में रहता हुआ सम्पूर्ण प्रमत्तकाल कितना होता है ? जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान ने कहा—एक जीव की अपेक्षा से जघन्य एक समय, उत्कृष्ट देशन्यून करोड़ पूर्व और सभी जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल है।<sup>१३</sup>

इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान ने कहा—एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट देशन्यून करोड़ पूर्व है।<sup>१४</sup>

यहाँ पर प्रश्न में “सव्वाविणं पमत्तद्धा” शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस बात का सूचक है प्रमत्तसंयत काल सम्पूर्ण कितना है अतः प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन दोनों गुणस्थानों में एक जीव आते-जाते सम्पूर्ण काल मिलाकर कितना रहता है ? तो उत्तर में देशन्यून करोड़ पूर्व बताया है। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में इस बात को स्पष्ट किया है।<sup>१५</sup>

मोक्षमार्ग ग्रन्थ<sup>१६</sup> में श्री रतनलाल दोषी ने तथा अन्य अनेक लेखकों ने एवं स्तोक संग्रहों में प्रमत्तसंयत गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोनकरोड़ पूर्व की लिखी है, पर यह भ्रम है, चूँकि उपर्युक्त सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों के हमने जो प्रमाण दिये हैं उससे यही स्पष्ट है कि छठे और सातवें दोनों गुणस्थानों में उतार-चढ़ाव को मिलाकर देशोन करोड़ पूर्व की स्थिति कही है, न कि यह केवल छठे गुणस्थान की ही स्थिति है।

#### ७. अप्रमत्तसंयत

इस गुणस्थान में अवस्थित साधक प्रमाद से रहित होकर आत्म-साधना में लीन रहता है, इसलिए इसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा गया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि छठे और सातवें गुणस्थान का परिवर्तन पुनः-पुनः होता रहता है। जब साधक में आत्म-तस्लीनता होती है तब वह सातवें गुणस्थान में चढ़ता है और प्रमाद का उदय आने पर छठे गुणस्थान में चला जाता है।

वर्तमान काल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान के ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ नहीं सकता। चूँकि ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ने के लिए जो उत्तम संहनन तथा पात्रता चाहिए उसका वर्तमान काल में अभाव है। सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का काल है। यह परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव को अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नहीं रह सकती। अतः सातवें, आठवें आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सभी का सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त, (२) सातिशय अप्रमत्त। सातवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान में और छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में आना-जाना स्वस्थान अप्रमत्तसंयत में होता है किन्तु जो श्रमण मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षपण करने को उद्यत होते हैं वे सातिशय अप्रमत्त हैं। उस समय ध्यानावस्था में चारित्र्य-मोहनीय-कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव में प्रकट होते हैं जिनके द्वारा वह जीव चारित्र्य मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करने में समर्थ होता है। इनमें से अधःकरण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशय अप्रमत्तसंयत में प्रकट होते हैं। इन परिणामों से वह संयत मोहकर्म के उपशमन या क्षपण के लिए उत्साहित होता है।

सातवें गुणस्थान में आहारक द्विक का बन्ध होने लगता है। अतः छठे गुणस्थान में बँधने वाली ५७ में इन दो के मिला देने पर ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि जिस जीव ने छठे गुणस्थान में देवायु, का बन्ध प्रारम्भ कर दिया है उसकी अपेक्षा ही सातवें में देवायु का बन्ध होने पर ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। किन्तु जिसने छठे गुणस्थान में देवायु का बन्ध प्रारम्भ नहीं किया है उसके सातवें में चढ़ने पर देवायु का बन्ध नहीं होता। अतः ऐसे जीव की अपेक्षा ५८ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। उक्त दोनों विवक्षाओं से इस गुणस्थान में ५८ या ५९ कर्म प्रकृति का बन्ध होता है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

#### ८. निवृत्ति बाधर—(अपूर्वकरण)

इस गुणस्थान में जो निवृत्ति शब्द आया है उसका अर्थ ‘भेद’ है<sup>१७</sup> निवृत्तिबाधर गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। उसके असंख्यात समय है। इसमें भिन्न समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि तो एक सदृश नहीं होती,

किन्तु एक समयवर्ती जीवों के अध्यवसायों में भी असंख्यात गुणी न्यूनाधिक विशुद्धि होती है। एतदर्थं यह विसदृश परिणाम विशुद्धि का गुणस्थान है।<sup>१८</sup>

निवृत्ति बादर का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है।<sup>१९</sup> यहाँ यह ज्ञातव्य है हम जिन यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करण परिणामों का निरूपण सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय कर आये हैं वे ही तीनों करण चारित्र्य मोहनीय के उपशमन एवं क्षपण के समय भी होते हैं। उनमें से प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण सातिशय अप्रमत्तसंयत में होता है और दूसरा करण आठवें गुणस्थान में होता है। इसी कारण इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण भी है। तीसरा करण नौवें गुणस्थान में होता है। अतः इसकी अपेक्षा इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण रखा है। आचार्य हरिभद्र ने इसे द्वितीय अपूर्वकरण कहा है।<sup>२०</sup> इस गुणस्थान में अपूर्व विशुद्धि, पूर्व गुणस्थानों में जो परिणाम अभी तक प्राप्त नहीं हुए, ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं। एतदर्थं इसका नाम अपूर्वकरण है।<sup>२१</sup>

इस गुणस्थान में पहले कभी न आया हो वैसा विशुद्ध भाव आता है जिससे आत्मा गुणश्रेणी पर आरुढ़ होने की तैयारी करने लगता है। आरोह की दो श्रेणियाँ हैं—(१) उपशम और (२) क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला जीव ११वें गुणस्थान तक मोह का सर्वथा उपशान्त कर वीतराग बन जाता है। उपशम अल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह पुनः नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। क्षपकश्रेणी प्रतिपन्न जीव मोह को खपाकर दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है और वीतराग बन जाता है। क्षीणमोह का अवरोह नहीं होता।

आठवें गुणस्थान के सात भाग हैं। उनमें प्रथम भाग में सातवें गुणस्थान वाली ५६ प्रकृतियों में से देवायु को घटा देने पर शेष ५८ प्रकृतियाँ बँधती हैं। द्वितीय भाग से लेकर छठे भाग तक ५६ प्रकृतियाँ बँधती हैं क्योंकि वहाँ निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ नहीं बँधती हैं।

सातवें भाग में २६ प्रकृतियाँ बँधती हैं। पूर्वं की प्रकृतियों में से (१) देवगति, (२) देवानुपूर्वी, (३) पंचेन्द्रिय जाति, (४) शुभ विहायोगति, (५) त्रस, (६) बादर, (७) पर्याप्त, (८) प्रत्येक, (९) स्थिर, (१०) शुभ, (११) सुमग, (१२) सुस्वर, (१३) आदेय, (१४) वैक्रियशरीर, (१५) आहारकशरीर, (१६) तेजसशरीर, (१७) कर्मणशरीर, (१८) समचतुरस्र संस्थान, (१९) वैक्रिय अंगोपांग, (२०) आहारक अंगोपांग, (२१) निर्माण नाम, (२२) तीर्थकर(जिन) नाम (२३) वर्ण, (२४) गन्ध, (२५) रस, (२६) स्पर्श, (२७) अगुरुलघु, (२८) उपघात, (२९) पराघात, (३०) श्वासोच्छ्वास, इस प्रकार ३० कर्म प्रकृतियाँ कम करने से २६ कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है।<sup>२२</sup>

#### ६. अनिवृत्तिबादर

अनिवृत्ति का अर्थ 'अभेद' है। अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के एक समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि सदृश ही होती है। इसलिए यह सदृश परिणाम विशुद्धि का गुणस्थान है।<sup>२३</sup> इस कारण इस गुणस्थान का अनिवृत्तिबादर गुणस्थान है। इसे अनिवृत्तिबादर सम्पराय अथवा बादर सम्पराय (कषाय) भी कहते हैं।

पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्तर-उत्तरवर्ती गुणस्थानों में कषाय के अंश कम होते जाते हैं। वैसे-वैसे परिणामों की विशुद्धि भी बढ़ती जाती है। आठवें गुणस्थान के परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक है। इस गुणस्थान में होने वाले परिणामों द्वारा आयुर्कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति-खण्डन और अनुभागखण्डन होता है। अभी तक करोड़ों सागर की स्थिति वाले कर्म बँधते जाते थे। उनका स्थिति बन्ध उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय में पहुँचने पर मोहनीयकर्म की जो जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति बतायी गयी है तत्प्रमाण स्थिति का बन्ध होता है। कर्मों के सत्त्व का भी अत्यधिक परिणाम में ह्रास होता है। प्रति समय कर्म-प्रदेशों की निर्जरा भी असंख्यात गुणी बढ़ती जाती है। यह स्थिति-खण्डन आठवें गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाता है और इस गुणस्थान में उसकी मात्रा पहले से अधिक बढ़ जाती है। इस गुणस्थान में उपशमश्रेणी वाला जीव मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोमवृत्ति को छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियों का उपशमन कर लेता है और क्षपकश्रेणी वाला उन्हीं प्रकृतियों का क्षय करता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी वाला मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।



तीवें गुणस्थान के पाँच भाग हैं। उनमें प्रथम भाग में २२ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान में जो २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है उसमें से हास्य, रति, दुर्गच्छा, भय, ये चार कर्मप्रकृतियाँ कम करने से शेष २२ का बन्ध होता है।

द्वितीय भाग में २१ प्रकृतियाँ बँधती हैं, यहाँ पूर्व प्रकृतियों में से पुरुष वेद कम करना चाहिए।

तृतीय भाग में २० का बन्ध होता है, संज्वलन क्रोध कम करना चाहिए।

चतुर्थ भाग में १६ प्रकृतियाँ बँधती हैं, संज्वलन मान कम करना चाहिए।

पाँचवें भाग में १८ प्रकृतियाँ बँधती हैं। उपरोक्त में से संज्वलन माया कम करनी चाहिए।<sup>९४</sup>

### १०. सूक्ष्म-सम्पराय

इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभरूप कषाय का ही उदय रहता है। अन्य कषायों का उपशमन या क्षय हो जाता है। जैसे धुले हुए कुसुमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से रह जाता है। इसी कारण इस गुणस्थान को सूक्ष्म सम्पराय (कषाय) गुणस्थान कहा है। दसवें गुणस्थान के प्रारम्भ में १७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, किन्तु उसके अन्त में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, उच्च गोत्र और यशःकीर्ति इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध रक जाता है। अतः ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय का ही बन्ध होता है। चूँकि इन गुणस्थानों में कषाय का अभाव रहता है इसलिये सातावेदनीय की स्थिति अधिक नहीं बँधती। किन्तु योग के सद्भाव होने से एक समय की स्थिति वाला ही सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। कुछ आचार्य दो समय की स्थिति का बन्ध मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम समय में सातावेदनीय कर्म के परमाणु आते हैं और दूसरे समय में निर्जीर्ण हो जाते हैं।

### ११. उपशान्तमोह

दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही वह जीव ग्यारहवाँ गुणस्थान में आता है। जैसे गंदले जल में कतक फल या फिटकरी आदि फिराने पर उसका मल भाग नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ जल ऊपर रह जाता है, वैसे ही उपशमनश्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म जघन्य एकसमय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे कि जीव के परिणामों में एकदम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। एतदर्थ इसे उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं।<sup>९५</sup>

इस गुणस्थान में वीतरागता तो आ जाती है किन्तु ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म विद्यमान रहते हैं। अतः वीतरागी बन जाने पर भी वह जीव छद्मस्थ या अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ नहीं।

मोहकर्म का उपशमन एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए होता है। उस काल के समाप्त होने पर राख से दबी हुई अग्नि की भाँति वह पुनः अपना प्रभाव दिखाता है। परिणामतः आत्मा का पतन होता है और वह जिस क्रम से ऊपर चढ़ता है उसी क्रम से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान से गिरने वाला आत्मा कभी कभी प्रथम गुणस्थान तक पहुँच जाता है। इस प्रकार का आत्मा पुनः प्रयास कर प्रगति-पथ पर बढ़ सकता है।

इस सम्बन्ध में गीता का अभिमत है कि दमन के द्वारा विषय-कषाय का निवर्तन तो हो जाता है, किन्तु उसके पीछे रहे हुए अन्तर्मानस की विषय संबंधी भावनाएँ नष्ट नहीं होतीं जिससे समय पाकर वे पुनः उद्बुद्ध हो जाती हैं। अतः दमन द्वारा उच्चतम स्थिति पर पहुँचा हुआ साधक पुनः पतित हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में मृत्यु प्राप्त करने वाला मुनि अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है।

### १२. क्षीण-मोह

इस भूमिका में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है। कषायों को नष्ट कर आगे बढ़ने वाला साधक दसवें गुणस्थान के अन्त में लोभ के अन्तिम अवशेष को नष्टकर मोह से सर्वथा मुक्ति पा लेता है। इस अवस्था का नाम क्षीण-मोह, क्षीणमोह वीतराग, या क्षीणकषाय है।<sup>९६</sup> इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का पतन नहीं होता।

भगवान ने कहा—कर्म का मूल मोह है। सेनापति के भाग जाने पर सेना स्वतः भाग जाती है। वैसे ही मोह के नष्ट होने पर एकत्व-विचार शुक्लध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय ये तीनों कर्म-बन्धन टूट जाते हैं और साधक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति से युक्त हो जाता है।

### १३. सयोगी केवली

चार घातिक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय के क्षीण होने पर जिसके शरीर आदि की प्रवृत्ति शेष रहती है, उसे सयोगी केवली कहा जाता है। अर्थात् जो विबुद्ध ज्ञानी होने पर भी यौगिक प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होता वह सयोगी कहलाता है। घातिकर्मों के नष्ट होने पर जीव समस्त चराचर तत्वों को हस्तामलकवत् देखता है। वह विश्वतत्त्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। इस अवस्था में जीव कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक एक करोड़ पूर्व वर्ष तक रहता है। वह सर्वज्ञ और केवली कहलाता है और उसे ही वेदान्त ने 'जीवन्मुक्ति' अथवा 'सदेह मुक्ति' की अवस्था कहा है।

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त समय अवशेष रहता है, उस समय यदि आयुकर्म की स्थिति कम और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तो उसकी स्थिति के समीकरण के लिए केवली समुद्घात करते हैं, अर्थात् मूल शरीर को छोड़े बिना ही अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकाल देते हैं। प्रथम समय में चौदह रज्जू प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म-प्रदेश फैलते हैं। उन आत्म-प्रदेशों का आकार दण्ड जैसा होता है। ऊँचाई में लोक के ऊपर से नीचे तक होता है किन्तु उसकी मोटाई शरीर के बराबर होती है। दूसरे समय में जो दण्ड के समान आकृति थी उसे पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण में फैलाकर उसका आकार कपाट (किवाड़) के सदृश बनाया जाता है। तीसरे समय में कपाट के आकार वाले उन आत्म-प्रदेशों को मन्थाकार बनाया जाता है। अर्थात् पूर्व-पश्चिम उत्तर-और दक्षिण दोनों तरफ आत्म-प्रदेशों को फैलाने से उनका आकार मथनी के जैसा हो जाता है। चौथे समय में विदिशाओं में आत्म-प्रदेशों को पूर्ण करके संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। इसे आचार्य ने लोकपूरण समुद्घात कहा है। इसी प्रकार चार समयों में आत्म-प्रदेश पुनः संकुचित होते हुए पहले आकारों को धारण करते हुए शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसे केवली-समुद्घात कहते हैं। इस क्रिया से जिस प्रकार गोले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों को फैलाने से उनमें संसक्त कर्म-प्रदेशों का स्थिति व अनुभागांश क्षीण होकर आयु-प्रमाण हो जाते हैं।<sup>१०</sup>

केवली-समुद्घात में आत्मा की व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है। उसकी तुलना श्वेताश्वतरो-पनिषद्<sup>११</sup>, मगवद्गीता<sup>१२</sup> में जो आत्मा की व्यापकता का विवरण है उससे की जा सकती है।

जिस प्रकार जैन साहित्य में वेदनीय आदि कर्मों को शीघ्र भोगने के लिए समुद्घात क्रिया का उल्लेख है वैसे ही योग-दर्शन में<sup>१३</sup> बहुकाय-निर्माण क्रिया का वर्णन है जिसे तत्त्व साक्षात् करने वाला योग स्वोपक्रम कर्म को शीघ्र भोगने के लिए करता है।

षट्खण्डागम में सयोगी केवली के स्थान पर सयोग केवली शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>१४</sup>

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, पाँच अन्तराय, उच्च गोत्र और यशः नाम इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सातावेदनीय कर्म प्रकृति का ही बन्ध होता है।

### १४. अयोगी केवली

इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्त प्रकट होता है। उसके द्वारा योगों का निरोध होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का सर्वथा निरोध करने के कारण ही इस गुणस्थान को अयोगी केवली कहा गया है। यह चारित्र-विकास और आत्म-विकास की चरम अवस्था है। इसमें आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान के द्वारा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त कर अन्त में देहत्याग कर सिद्धावस्था को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों की बोलने में जितना समय लगता है उतने ही समय में वह मुक्त हो जाता है, जिसे परमात्मपद, स्वरूपसिद्धि, मुक्ति, निर्वाण, अपुनरावृत्ति-स्थान और मोक्ष आदि नामों से कहा जाता है। यह आत्मा की सर्वांगीण पूर्णता पूर्णकृतकृत्यता एवं परमपुरुषार्थ-सिद्धि है।

षट्खण्डागम में अयोगी केवली के स्थान पर अयोग केवली शब्द व्यवहृत हुआ है।<sup>१५</sup> आत्मा के इस विकास क्रम से स्पष्ट है कि जैनधर्म में कोई अनादि सिद्ध, परमात्मा नहीं माना गया है। प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है।

### आत्मा के तीन रूप

इस विराट विश्व में अनन्त आत्माएँ हैं, चाहे वे त्रस हैं या स्थावर। जैन-दर्शन में अध्यात्म-विकास की दृष्टि से उनका तीन भागों में वर्गीकरण किया है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।<sup>१६</sup>



प्रारंभ के तीन गुणस्थान वाले जीवों की बहिरात्मा संज्ञा है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवों को अन्तरात्मा कहते हैं। और तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते हैं।<sup>६६</sup>

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव पूर्ण रूप से बहिरात्मा है। द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव में बहिरात्म-तत्त्व प्रथम गुणस्थानवर्ती की अपेक्षा न्यून है और तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव में द्वितीय गुणस्थान वाले की अपेक्षा बहिरात्म-तत्त्व और भी कम है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतिसम्यक्दृष्टि जीव ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होकर अपनी दैनिक प्रवृत्तियों का अवलोकन करता है त्यों-त्यों उसे बाह्यप्रवृत्तियाँ अशांति का कारण, अशाश्वत एवं दुःखप्रद प्रतीत होने लगती हैं और उसके विपरीत आन्तरिक प्रवृत्तियाँ उसे शांति देने वाली अनुभव होती हैं। ऐसी स्थिति में जब वह अपनी असद् प्रवृत्तियों के त्याग की ओर उन्मुख होता है और स्थूल प्राणातिपात प्रभृति पापों का परित्याग करता है और वह अन्तरात्म तत्त्व की ऐसी श्रेणी पर पहुँचता है जिस अवस्था को श्रावक, उपासक और श्रमणोपासक कहते हैं। इसके पश्चात् जब उसकी विचारधारा और अधिक निर्मल होती है और वह यह अनुभव करने लगता है कि सांसारिक वस्तुओं के परित्याग में ही सच्ची शांति है, संग्रह में नहीं; तब वह सांसारिक मोह-बन्धनों एवं कौटुम्बिक स्नेह-पाश से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने का उपक्रम करता है। फलस्वरूप वह परिवार तथा घर आदि का परित्याग कर सद्गुरुदेव के सन्निकट श्रमणधर्म को स्वीकार करता है, यह अन्तरात्मा की दूसरी श्रेणी है।

इस श्रमणावस्था में रहते हुए वह जिस समय अप्रमत्त होकर स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन में तल्लीन होता है उस समय वह अन्तरात्म-तत्त्व की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ जाता है। किन्तु मानव की मनोवृत्ति अहर्निश अप्रमत्त नहीं रह सकती। उसे बीच-बीच में विश्राम लेना पड़ता है, शारीरिक चिन्ताएँ करनी पड़ती हैं। एतदर्थ ही श्रमण की प्रवृत्ति प्रमत्त और अप्रमत्त रूप में होती रहती है। जब कोई साधक अप्रमत्त अवस्था में रहते हुए परम समाधि में तल्लीन होता है, अपनी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को बाहर से हटाकर एकमात्र आत्मस्वरूप में ही स्थिर करता है, उस समय उसके हृदय में एक विशुद्ध व अपूर्व भाव जागृत होता है। इस भाव से पूर्ण संचित कर्मबन्धन क्रमशः विनष्ट होते हैं, श्रमणनवीन कर्मबन्धनों को क्रमशः घटाता है और ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब नवीन बंधने वाले कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है। केवल एक समय जैसी अत्यल्पस्थितिवाला सातावेदनीय कर्म का आस्रव या बन्ध केवल नाममात्र का होता है; और अनादिकाल से संलग्न अष्ट कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय का क्षय करता है, यह अन्तरात्म-तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है।

अन्तरात्मा की इस उत्कृष्ट अवस्था में चार घनघाती कर्मों के क्षय होते ही परमात्म-दशा प्रकट होती है। और वह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है। जब तक उसका धायुकर्म समाप्त नहीं होता तब तक शरीर बना रहता है। शरीर को 'कल' भी कहते हैं। शरीर के साथ रहने वाली परमात्म-दशा को सकल परमात्मा कहते हैं। इस अवस्था को अन्य दार्शनिक चिन्तकों ने सगुण या साकार परमात्मा के नाम से अभिहित किया है। इस सकल परमात्म-अवस्था में रहते हुए वे केवली विश्व के विभिन्न अंचलों में पादविहार करते हुए मुमुक्षु जीवों को सन्मार्ग पर चलने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। जब उनका जीवनकाल अत्यल्प रह जाता है तब वे विहार, देशना आदि सभी क्रियाओं का निरोध कर पूर्ण आत्मस्थ हो जाते हैं। एक लघु अन्तर्मुहूर्त काल में अवशेष रहे हुए आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की समस्त प्रकृतियों को नष्ट कर नित्य, निरंजन, निर्विकार सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। इस अवस्था को अन्य दार्शनिकों ने निर्गुण या निराकार के नाम से कहा है। जैसे धान्य के ऊपर का छिलका दूर हो जाने से चावल में अंकुरोत्पादन की शक्ति नहीं रहती वैसे ही कर्म-नोकर्म रूपी मल के नष्ट हो जाने से सिद्ध परमात्मा का भी भवांकुर पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाता है और वे अपुनरागम स्थिति में सदा सिद्ध रूप में स्थित रहते हैं।

योगविद् जैनाचार्यों ने चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की गणना सम्प्रज्ञातयोग से की है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान की तुलना असंप्रज्ञातयोग से की है।<sup>६७</sup> साधना की दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा को क्रमशः पतित अवस्था, साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। नैतिकता की दृष्टि से इन तीनों अवस्थाओं को अनैतिकता की अवस्था, (immoral), नैतिकता की अवस्था (moral), और अतिनैतिकता की अवस्था (amoral) कह सकते हैं। प्रथम अवस्था वाला प्राणी दुराचारी व दुरात्मा होता है। दूसरी अवस्था वाला प्राणी सदाचारी व महारात्मा होता है और तीसरी अवस्था वाला प्राणी आदर्शात्मा या परमात्मा होता है।

### जैन गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ

जैनदर्शन की भाँति वैदिक परम्परा में भी आत्मविकास के सम्बन्ध में विचार किया गया है। योगवासिष्ठ

व पातञ्जलयोगसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में आत्मविकास की भूमिकाओं का विस्तार से विवेचन है। योगवासिष्ठ में चौदह भूमिकाओं का वर्णन है उनमें सात भूमिकाएँ अज्ञान की हैं और सात भूमिकाएँ ज्ञान की हैं। इनमें से सात अज्ञान की भूमिकाएँ ये हैं।<sup>६६</sup>

(१) बीज जाग्रत—इस भूमिका में अहं और ममत्व बुद्धि की जागृति नहीं होती है। किन्तु उस जागृति की बीज रूप में योग्यता होती है। अतः यह बीजजाग्रत भूमिका कहलाती है। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्र निकाय में मानी जा सकती है।

(२) जाग्रत—इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि अल्पांश में जाग्रत होती है। यह भूमिका कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों में मानी जा सकती है।

(३) महाजाग्रत—इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि विशेषरूप से पुष्ट होती है। एतदर्थ इसे महाजाग्रत भूमिका कहा है। यह भूमिका मानव व देव समूह में मानी जा सकती है।

(४) जाग्रत-स्वप्न—इस भूमिका में जागते हुए मनोराज्य अर्थात् भ्रम का समावेश होता है। जैसे एक चाँद के बदले दो चाँद दिखायी देना, सीप में चाँदी का भ्रम होना। इन कारणों से यह भूमिका जाग्रत-स्वप्न कहलाती है।

(५) स्वप्न—निद्रावस्था में आये हुए स्वप्न का जागने के पश्चात् भी जो भान होता है वह स्वप्न भूमिका है।

(६) स्वप्न-जाग्रत—वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का समावेश इसमें होता है। यह स्वप्न शरीरपात हो जाने पर भी चालू रहता है।

(७) सुषुप्तक—यह भूमिका प्रगाढ़ निद्रावस्था में होती है जिसमें जड़ जैसी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्र वासना के रूप में रहे हुए होते हैं। अतः वह सुषुप्ति कहलाती है।

तीसरी भूमिका से लेकर सातवीं भूमिका स्पष्ट रूप से मानव निकाय में होती है।<sup>६७</sup>

ज्ञानमय स्थिति के भी सात भाग किये गये हैं और वे सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं।<sup>६८</sup>

(१) शुभेच्छा—आत्मावलोकन की वैराग्ययुक्त इच्छा।

(२) विचारणा—शास्त्र एवं सज्जनों के संसर्गपूर्वक वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार में प्रवृत्ति।

(३) तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का घटना। क्योंकि इसमें संकल्प-विकल्प कम होते हैं।

(४) सत्त्वापत्ति—सत्य और शुद्ध आत्मा में स्थिर होना।

(५) असंसक्ति—असंग रूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

(६) पदार्थाभाविनी—इसमें बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। देह यात्रा केवल दूसरों के प्रयत्न को लेकर चलती है।

(७) तूर्यंगा—भेदभाव का भान बिलकुल भूल जाने से एक मात्र स्वभावनिष्ठा में स्थिर रहना। यह अवस्था जीवनमुक्त में होती है। विदेह मुक्ति के पश्चात् तूर्यातीत अवस्था है।

सात अज्ञान की भूमिकाओं में अज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास काल में गिन सकते हैं। उसके विपरीत सात भूमिकाएँ ज्ञान की हैं, उन्हें विकास क्रम में गिना जा सकता है। ज्ञान की सातवीं भूमिका में विकास पूर्ण कला में पहुँचता है। उसके पश्चात् की स्थिति मोक्ष मानी जाती है।

कुछ विद्वानों ने इन भूमिकाओं की तुलना मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अवस्थाओं से की है।<sup>६९</sup> हमारे अपने अभिमतानुसार भले ही संख्या की दृष्टि से गुणस्थानों के साथ उनकी तुलना की जाय, किन्तु क्रमिक विकास की दृष्टि से इनमें साम्य नहीं है।

जेन गुणस्थान और चित्त की पाँच अवस्थाएँ

योग-दर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ बतायी हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।<sup>७०</sup>

(१) मूढ़—इसमें तमोगुण की प्रधानता होती है। इस अवस्था में व्यक्ति अज्ञान और आलस्य से घिरा रहता है। न उसमें सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है, न धर्म के प्रति अभिरुचि होती है, और न धन-सम्पत्ति के संग्रह की ओर ही प्रवृत्ति होती है। उसका सम्पूर्ण जीवन अज्ञान तथा अनैश्वर्य में ही व्यतीत होता है। यह अवस्था अविकसित मनुष्यों और पशुओं में पायी जाती है।



(२) क्षिप्त—इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। चित्त बाह्य विषयों में फँसा रहता है। वह कभी इधर दौड़ता है, कभी उधर। रजोगुण की प्रबलता के कारण इच्छाएँ प्रबल हो जाती हैं। जब रजोगुण या तमोगुण का मिश्रण होता है तब क्रूरता, कामाब्धता और लोभ आदि की वृत्तियाँ पनपने लगती हैं और जब उसका सत्त्वगुण के साथ मिश्रण होता है तब श्रेष्ठ प्रवृत्तियों में मन लगता है। यह अवस्था उस संसारी मानव की है जो संसार में फँसा है और विविध प्रकार की उधेड़बुन करता रहता है।

(३) विक्षिप्त—इस अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है। रजोगुण और तमोगुण दबे हुए और गौण रूप से रहते हैं। इस अवस्था में सत्त्वगुण रहने के कारण मानव की प्रवृत्ति धर्मज्ञान और ऐश्वर्य की ओर रहती है किन्तु रजोगुण के कारण चित्त विक्षिप्त बन जाता है।

इन तीन अवस्थाओं को योग में सम्मिलित नहीं किया है। क्योंकि इसमें चित्तवृत्ति प्रायः बहिर्मुखी होती है। विक्षिप्त अवस्था में कभी-कभी अन्तर्मुखी भी होती है किन्तु मन शीघ्र ही पुनः विषयों में भटकने लगता है।

(४) एकाग्र—मन का किसी एक प्रशस्त विषय में स्थिर होना एकाग्र है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव घट जाता है तब चित्त इधर-उधर भटकना छोड़कर एक विषय पर स्थिर हो जाता है। लम्बे समय तक चिन्तन की एक ही धारा चलती रहती है। इससे विचार शक्ति में उत्तरोत्तर गहराई आती-जाती है। साधक जिस बात को सोचता है उसकी गहराई में उतर आता है। नेत्र बन्द करने पर भी वह उसके सामने धूमती रहती है। इस प्रकार की एकाग्रता होने पर वह वस्तु उसके वशीभूत हो जाती है। योग की शक्तियाँ ऐसी अवस्था में प्रकट होती हैं। इस भूमिका को सम्प्रज्ञात या सवीज समाधि कहते हैं। उसकी चार अवस्थाएँ हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

(५) निरुद्ध—जिस चित्त में सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो गया हो, केवल मात्र संस्कार ही अवशेष रहे हों, वह निरुद्ध है। इस अवस्था को असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहा जाता है। इसके प्राप्त होने पर पुरुष का चित्त के साथ सम्बन्ध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

इसी का अपर नाम स्वरूपावस्थान है। अर्थात् द्रष्टा या पुरुष बाह्य विषयों का चिन्तन छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

इन पाँच अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर चित्त के दो भेद किये जाते हैं—व्युत्थानचित्त और निरोधचित्त। प्रथम तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध व्युत्थानचित्त के साथ है और अन्तिम दो अवस्थाओं का सम्बन्ध निरोधचित्त के साथ है। प्रथम तीन अवस्थाएँ अविकास काल की हैं और अन्तिम दो अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास क्रम को सूचित करती हैं।

चित्त की इन पाँचों अवस्थाओं में मूढ़ और क्षिप्त में रजोगुण और तमोगुण की इतनी अधिक प्रधानता रहती है कि वे निःश्रेयस प्राप्ति के साधक नहीं, बाधक बनते हैं। चित्त की इन दो अवस्थाओं में आध्यात्मिक विकास नहीं होता। विक्षिप्त अवस्था में वह कभी सात्त्विक विषयों में समाधि प्राप्त करता है, किन्तु उस समाधि के काल में चित्त की अस्थिरता इतनी अधिक होती है, जिससे उसे भी योग की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। एकाग्र और निरुद्ध के समय जो समाधि होती है उसे योग कहा है। और वही आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम है। इन पाँच भूमिकाओं के पश्चात् की स्थिति मोक्ष है।<sup>१९</sup>

जैन गुणस्थानों के साथ चित्त की पाँच अवस्थाओं की जब हम तुलना करते हैं तो हम यह कह सकते हैं कि प्राथमिक दो अवस्थाएँ प्रथम गुणस्थान की सूचक हैं। तृतीय विक्षिप्त अवस्था मिश्र गुणस्थान के सदृश है। चतुर्थ एकाग्र अवस्था विकास का सूचन करती है और पाँचवीं निरुद्ध अवस्था पूर्ण विकास को बताती है। इन अवस्थाओं में विकास की क्रमशः भूमिका नहीं बतायी गयी है। ये अवस्थाएँ चित्तवृत्ति के आधार पर आयोजित हैं। इनमें आत्मा की गौणता रहती है। इनमें आत्मा की अन्तिम स्थिति का कुछ भी परिज्ञान नहीं होता, जबकि गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मा से है, चित्त से नहीं। अतः जैन गुणस्थानों के साथ इन चित्तवृत्तियों की आंशिक तुलना हो सकती है, पूर्णरूप से नहीं।

**जैन गुणस्थान और गीता की त्रिगुणात्मकता**

श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यद्यपि उसमें आध्यात्मिक विकास का वर्णन विस्तार के साथ और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता, तथापि बहुत ही संक्षेप में त्रिगुणात्मक धारणा के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है—आत्मा का विकास तीन सोपानों में होता है। यह निष्क्रिय, जड़ता



और अज्ञान (तमोगुण प्रधान अवस्था) से भौतिक सुखों के लिए संघर्ष कर, रजोगुणात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ऊपर उठती हुई ज्ञान और आनन्द की ओर बढ़ती है।<sup>१२</sup> सारांश यह है कि आत्मा तमोगुण से रजोगुण और सत्त्वगुण की ओर बढ़ता हुआ अन्त में गुणातीत अवस्था को प्राप्त करता है। जिस समय रजस और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण प्रधान होता है उस समय जीवन में निष्क्रियता और जड़ता की अभिवृद्धि होती है और वह परिस्थिति का दास बन जाता है। यह “अविकास” की अवस्था है। जब सत्त्व और तम को दबाकर रजस प्रधान होता है तो उस समय वह निश्चय नहीं कर पाता। तृष्णा और लालसा के बढ़ने से उसमें आवेश की मात्रा बढ़ जाती है, यह ‘अनिश्चय’ की स्थिति है। ये दोनों अविकास के सूचक हैं। जब रजस और तमस को दबाकर सत्त्व प्रधान होता है उस समय जीवन में ज्ञान का अभिनव आलोक जगमगाने लगता है और जीवन पवित्र और यथार्थ आचरण की ओर प्रगति करता है। यह ‘विकास’ की स्थिति है। जब सत्त्व के निर्मल आलोक में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है तो वह गुणातीत ही गुणों का द्रष्टा मात्र हो जाता है। यह त्रिगुणातीत अवस्था ही आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है। तीन गुणों के आधार पर ही व्यक्तित्व, श्रद्धा, ज्ञान, बुद्धि, कर्म और कर्ता आदि का वर्णन किया गया है। गीता में बन्धन का मूल कारण त्रिगुण बतलाया है।<sup>१३</sup> गीता में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सत्त्व, रज, तम इन गुणों से उत्पन्न त्रिगुणात्मक भावों के मोह में पड़ कर जगत के प्राणी उस परम अव्यय परमात्मस्वरूप को जान नहीं पाते हैं।<sup>१४</sup>

गीता की दृष्टि से तमोगुण में अज्ञान, जाड्यता, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य, निद्रा और मोह की प्रधानता होती है। रजोगुण में रागात्मकता, तृष्णा, लोभ, क्रियाशीलता, अशान्ति और ईर्ष्या की प्रधानता होती है। सत्त्वगुण में ज्ञान का प्रकाश, निर्विकारस्थिति की प्रधानता होती है। इन तीनों गुणों के स्वभाव पर हम चिन्तन करें तो जैन साहित्य में कर्मबन्धन के जो मिथ्यात्व, अन्नत, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कारण बताये हैं उनके साथ भी इनकी तुलना हो सकती है। तमोगुण में मिथ्यात्व और प्रमाद, रजोगुण में अन्नत, कषाय और योग तथा सत्त्वगुण में ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग और चारित्र्योपयोग हैं।

त्रिगुणों के आधार पर यदि हम गुणस्थानों पर चिन्तन करें तो इस प्रकार कर सकते हैं—

प्रथम गुणस्थान में तमोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण तमोन्मुखी होता है और सत्त्वगुण तमोगुण और रजोगुण के अधीन रहने से यह अवस्था तमोगुण प्रधान है।

द्वितीय गुणस्थान में भी तमोगुण की ही प्रधानता होती है और रजोगुण भी तमोन्मुखी ही होता है। तथापि कुछ सत्त्वगुण रहता है, अतः इसे सत्त्व-रज से मिली हुई तमोगुणावस्था कहते हैं।

तृतीय गुणस्थान में रजोगुण की प्रधानता होती है। सत्त्व और तम ये दोनों गुण रजोगुण के अधीन होते हैं। अतः यह सत्त्व और तम से मिली हुई रजोगुण प्रधानावस्था है।

चतुर्थ गुणस्थान में विचारों में सत्त्वगुण होता है किन्तु आचारों में तमोगुण और रजोगुण की प्रधानता होती है। उसके विचारों में तमस और रजस गुण सत्त्व गुण के अधीन होते हैं किन्तु आचार में सत्त्वगुण तमस और रजस के अधीन होता है।

पंचम गुणस्थान में विचार की दृष्टि से सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और आचार में भी सत्त्वगुण का विकास होना प्रारम्भ होता है। यह अवस्था तम से युक्त सत्त्वोन्मुखी रजोगुण की अवस्था है।

छठे गुणस्थान में विचार और आचार दोनों में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है तथापि तम और रज विद्यमान होने से वे सत्त्व पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं।

सातवें गुणस्थान में सत्त्वगुण की इतनी अधिक प्रधानता हो जाती है कि तमोगुण पर वह पूर्ण अधिकार कर लेता है किन्तु रजोगुण पर उसका पूर्ण अधिकार नहीं हो पाता।

आठवें गुणस्थान में सत्त्वगुण रजोगुण पर पूर्ण अधिकार करने का प्रयत्न करता है।

नौवें गुणस्थान में सत्त्वगुण रजोगुण पर अधिकार कर उसको मृतप्रायः कर देता है। कषाय प्रायः नष्ट हो जाते हैं, केवल सूक्ष्म लोभ रूप रहता है।

दसवें गुणस्थान में सत्त्वगुण सूक्ष्म रूप में जो रजस रहा है उसको भी नष्ट कर देता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में तम और रज दोनों पर सत्त्वगुण का पूर्ण अधिकार हो जाता है। वह इन दोनों गुणों को नष्ट नहीं करता, किन्तु उनका दमन करता हुआ प्रगति करता है अतः तमस और रजस ये पुनः उद्बुद्ध होकर सत्त्व पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।



बारहवें गुणस्थान में तम और रज को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है और यहाँ पर सत्त्व की, रजस और तमस के साथ-संघर्षमय स्थिति समाप्त हो जाती है। इस गुणस्थान में रजोगुण-तमोगुण के नष्ट होने के साथ ही सत्त्वगुण भी नष्ट हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में त्रिगुणातीत अवस्था होती है, यद्यपि इस गुणस्थान में शरीर रहता है तथापि वह तीनों गुणों से प्रभावित नहीं होता।

चौदहवें गुणस्थान में भी त्रिगुणातीत अवस्था ही है।

इस प्रकार सत्त्व, रज और तम गुण की दृष्टि से गुणस्थानों की आंशिक तुलना की जा सकती है।

सत्त्व, रज और तम के आधार से आध्यात्मिक विकास का अन्य प्रकार से भी चिन्तन किया जा सकता है। गीता में तमोगुण को आध्यात्मिक विकास का बाधक गुण माना है। रजोगुण, तमोगुण की अपेक्षा कम बाधक है तो सत्त्व गुण साधक है। प्रत्येक गुण में तरतमता रही हुई है जिससे उनके अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं। संक्षेप में मनीषियों ने आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उन्हें आठ भूमिकाओं में विभक्त किया है। वह विभाग इस प्रकार है।

प्रथम भूमिका में श्रद्धा और आचार दोनों में तमोगुण की प्रधानता होती है जिससे उसकी जीवन-दृष्टि अशुद्ध होती है। जीवन-दृष्टि अशुद्ध होने से प्रस्तुत वर्ग का प्राणी परमात्मा की उपलब्धि नहीं कर सकता। ज्ञान-शक्ति भी कुण्ठित होने से और आसुरीवृत्ति की प्रधानता होने से उसका आचरण भी पापमय होता है।<sup>१४</sup> इस भूमिका की तुलना जैनदृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थान के साथ और बौद्ध दृष्टि से अन्धपृथक् जन-भूमि के साथ की जा सकती है।

द्वितीय भूमिका में श्रद्धा में तमस गुण की प्रधानता होती है किन्तु आचरण में सत्त्व गुण होता है। इस भूमिका में जो धर्म की साधना की जाती है वह फल की आकांक्षा से की जाती है। फल की आकांक्षा होने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जैनदर्शन में कामनायुक्त साधना का निषेध किया है और उसे शल्य कहा है। प्रस्तुत भूमिका की तुलना मार्गानुसारी अवस्था और बौद्ध दृष्टि की कल्याणपृथक्जन-भूमि से की जाती है।

तीसरी भूमिका में श्रद्धा और बुद्धि राजस होने से उसमें चंचलता रहती है। इसमें संशयात्मकता और अस्थिरता के कारण गीताकार ने इसे अविकार की अवस्था कही है। इस भूमिका की तुलना मिश्रगुणस्थान से की जा सकती है। जैनदृष्टि से मिश्र गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती किन्तु गीताकार ने कहा है कि इस वर्ग का प्राणी मृत्यु होने पर आसक्ति-प्रधान योनियों में जन्म ग्रहण करता है।

चतुर्थ भूमिका में दृष्टिकोण सात्त्विक होता है किन्तु आचरण में तम और रज की प्रधानता होती है। इस भूमिका की तुलना चतुर्थ गुणस्थान से कर सकते हैं। यह एक तथ्य है कि जिसका दृष्टिकोण निर्मल हो जाता है मले ही उसका वर्तमान में आचरण सम्यक् न हो किन्तु भविष्य में वह अपने आचरण को सम्यक् बनाकर अपना पूर्ण विकास कर सकता है। इस सत्य-तथ्य को जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं ने स्वीकार किया है।

पाँचवीं भूमिका में श्रद्धा और बुद्धि सात्त्विक होती है किन्तु आचरण में रजोगुण सतोन्मुखी होने से चित्तवृत्ति में चंचलता होती है। और तमोगुण के संस्कार के पूर्ण रूप से नष्ट न होने से वह अपनी साधना की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता। प्रस्तुत भूमिका की तुलना पाँचवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के साधकों से की जा सकती है।

छठी भूमिका में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये तीनों ही सात्त्विक होते हैं जिससे उसके मन, वचन और कर्म में एकरूपता आती है। अहंकार और आसक्ति का अभाव होने से यह विकास की भूमिका है। इसकी तुलना हम बारहवें गुणस्थान से कर सकते हैं। बारहवें गुणस्थान में मोह के नष्ट होने के पश्चात् ज्ञानावरण आदि कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

सातवीं भूमिका में साधक त्रिगुणात्मक जगत् में रहते हुए भी उससे ऊपर उठ जाता है। यह भूमिका गुणातीत अवस्था की चरम परिणति है और यह पूर्ण विकास का प्रथम चरण है। इसकी तुलना हम तेरहवें गुणस्थान से कर सकते हैं और बौद्ध विचारणा की दृष्टि से यह अर्हत् भूमि के समकक्ष है।

आठवीं भूमिका—यह पूर्ण विकास का अन्तिम चरण है। इसमें त्रिगुणात्मक देह से मुक्त होकर व्यक्ति विशुद्ध परमात्मा स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस भूमिका में अवस्थित वीतराग मुनि शरीर के सब द्वारों का संयम करके मन को हृदय में रोककर प्राणशक्ति को शीर्ष में स्थिर कर योग को एकाग्र कर 'ओं' का उच्चारण करता हुआ विशुद्ध आत्मस्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर का परित्याग कर उस परम गति को प्राप्त करता है।<sup>१५</sup> इस भूमिका की तुलना अयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

इन आठ भूमिकाओं के साथ जो गुणस्थानों की तुलना की गयी है वह भी एक देशीय ही है। जैसा गुणस्थानों में विकास का क्रम प्रतिपादित है वैसा तो नहीं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से समझने के लिए यह क्रम उपयोगी है ऐसा अवश्य कह सकते हैं।\*

### जैन गुणस्थान और बौद्ध अवस्थाएँ

बौद्ध-दर्शन में भी आत्मा के विकास के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। उसने आत्मा की, संसार और मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हैं। त्रिपिटक साहित्य में आध्यात्मिक विकास का वर्णन उपलब्ध है। हीनयान और महायान दोनों में आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को लेकर मतभेद है। हीनयान का लक्ष्य वैयक्तिक निर्वाण या अर्हत् पद प्राप्ति है। वह आध्यात्मिक विकास की चार भूमिकाएँ मानता है। महायान सम्प्रदाय का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ लोक मंगल की साधना करना भी है। वह आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ मानता है।

बौद्धधर्म में विश्व में जितने भी प्राणी हैं उन्हें पृथक्जन (मिथ्यादृष्टि) आर्य (सम्यक् दृष्टि) इन दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पृथक्जन अविकसित का काल है और आर्य विकास का काल है, जिसमें साधक सम्यक् दृष्टि को प्राप्त कर निर्वाण मार्ग की ओर अग्रसर होता है। यह सत्य है कि सभी पृथक्जन एक समान नहीं होते। कुछ पृथक्जन सदाचारी होते हैं और वे सम्यक्दृष्टि के बहुत ही सन्निकट होते हैं। पृथक्जन को अन्धपृथक्जन और कल्याण-पृथक्जन इन दो भागों में विभक्त किया है।<sup>१०</sup> अन्धपृथक्जन में मिथ्यात्व की तीव्रता होती है किन्तु कल्याणपृथक्जन निर्वाण मार्ग पर अभिमुख होता है पर उसे प्राप्त नहीं करता। मज्झिमनिकाय में प्रस्तुत भूमिका का वर्णन है। जैन दृष्टि से उस साधक की अवस्था मार्गानुसारी कही जा सकती है जिसके ३५ गुण बताये गये हैं।<sup>११</sup>

हीनयान की दृष्टि से जो सम्यक्दृष्टि से युक्त निर्वाण मार्ग के पथिक साधक हैं उन्हें अपने लक्ष्य को संप्राप्त करने हेतु चार भूमिकाओं को पार करना होता है। वे भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—

(१) श्रोतापन्न भूमि—श्रोतापन्न का अर्थ है धारा। जो साधक कल्याण मार्ग के प्रवाह में प्रवाहित होकर अपने लक्ष्य की ओर मुस्तैदी कदम बढ़ा रहा है वह साधक तीन संयोजनों अर्थात् बन्धनों को क्षय करने पर प्रस्तुत अवस्था को प्राप्त करता है।

(अ) सत्कायदृष्टि—देहात्म बुद्धि, शरीर जो नश्वर है उसे आत्मा मानकर उस पर ममत्व करना।

(आ) विचिकित्सा अर्थात् सन्देहात्मकता।

(इ) शीलव्रत परामर्श।

इन दार्शनिक एवं कर्मकाण्ड के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण एवं सन्देह समाप्त हो जाने से इस भूमि में पतन की सम्भावना नहीं है। साधक निर्वाण के लक्ष्य की ओर गति-प्रगति करता है। श्रोतापन्न साधक बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संधानुस्मृति और शील और समाधि, इन चार अंगों से युक्त होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति उसके अन्तर्मानस में निर्मल श्रद्धा अंगड़ाइयाँ लेती है, उसका विचार और आचार विशुद्ध होता है, वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण प्राप्त करता है। श्रोतापन्न भूमि की तुलना हम चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक की अवस्था से कर सकते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में जीव क्षायिक सम्यक्त्व को उपलब्ध कर लेता है, उसके पश्चात् अन्य अगले गुणस्थानों में दर्शनविशुद्धि के साथ चारित्र्यविशुद्धि भी होती है। सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी चतुष्क तथा संज्वलन [क्रोध के नष्ट होने पर केवल संज्वलन] मान, माया और लोभ तथा हास्यादि प्रकृतियाँ इसमें अवशेष रहती हैं इसी तरह श्रोतापन्न भूमि में भी कामधातु(वासनाएँ) समाप्त हो जाती हैं किन्तु रूपधातु (आस्रव, राग, द्वेष, मोह) अवशेष रहते हैं।

(२) सङ्खदानुगामी भूमि—श्रोतापन्न अवस्था में साधक काम-राग (इन्द्रियलिप्सा) और प्रतिध (दूसरे का अनिष्ट करने की भावना) प्रभृति अशुभ बन्धक प्रवृत्तियों का क्षय करता है किन्तु उसमें बन्ध के कारण राग, द्वेष मोह रूपी आश्रव है जिसका पूर्ण रूप से अभाव नहीं होता किन्तु इस भूमिका में उसका लक्ष्य आश्रव क्षय करना है। अन्तिम चरण में वह पूर्ण रूप से काम-राग और प्रतिध को नष्ट कर देता है और अनागामी भूमि की ओर अग्रसर होता है। इस भूमिका की तुलना हम आठवें गुणस्थान से कर सकते हैं। क्योंकि इसमें साधक राग, द्वेष और मोह पर प्रहार करता है और अन्त में क्षीणमोह को प्राप्त करता है। क्षीणमोह को ही बौद्ध दृष्टि में अनागामी भूमि कहा है। जैन दृष्टि से

\* देखिए—‘आध्यात्मिक साधना का विकासक्रम गुणस्थान सिद्धान्त’ —ले० डा० सागरमल जैन



आठवें से ११वें गुणस्थानों में आयु पूर्ण करने वाला साधक अधिक से अधिक तीसरे जन्म में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। बौद्ध दृष्टि से इस भूमि में एक ही बार संसार में जन्म ग्रहण करता है।

३. **अनागामी भूमि**—पूर्व की दो भूमियों को पार कर साधक इस भूमि में आता है। वह रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या को नष्ट करने का प्रयास करता है। जब वह पाँचों संयोजनों को नष्ट कर देता है तो वह अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेता है। जो इन संयोजनों को नष्ट करने के पूर्व ही साधना काल में ही मृत्यु को वरण कर लेता है वह ब्रह्मलोक में जन्म लेकर शेष पाँच संयोजनों के नष्ट होने पर निर्वाण को प्राप्त करता है। उसे पुनः प्रस्तुत लोक में जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती। अनागामी भूमि की तुलना आठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की जा सकती है।

४. **अर्हत् भूमि**—इसमें सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामराग, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या इन दस बन्धनों को नष्ट कर साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण भाव नष्ट हो जाने से वह कृतकार्य हो जाता है, उसके लिए कुछ भी करणीय अवशेष नहीं रहता, तथापि वह संघ की सेवा हेतु क्रियाएँ करता है।<sup>११६</sup> इसकी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

महायान की दृष्टि से अध्यात्मविकास की जो दस भूमिकाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) **प्रमुदिता**—यह शील विशुद्धि सम्बन्धी प्रयास करने की अवस्था है। इसमें बोधिसत्व (साधक) लोक मंगल की साधनभूत बोधि को संप्राप्त कर प्रमुदित होता है। इस अवस्था को बोधि प्रस्थानचित्त की अवस्था कहा जाता है। बोधि प्रणिधि चित्त में मार्ग का ज्ञान होता है तो बोधिप्रस्थान चित्त में मार्ग में गमन की क्रिया का। साधक इस भूमि में शक्ति पारमिता का अभ्यास करता है और पूर्ण शीलविशुद्धि की ओर प्रस्थित होता है। प्रस्तुत भूमिका की तुलना पाँचवें और छठे गुणस्थानों से की जा सकती है।

(२) **विमला**—इसमें अनैतिक आचरण से मुक्त होकर साधक आचरण की शुद्धि को प्राप्त करता है और शान्त पारमिता का अभ्यास करता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। इस भूमिका का लक्षण ज्ञान प्राप्त है और इसमें अच्युत समाधि का लाभ होता है। इसकी तुलना अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से की जा सकती है।

(३) **प्रभाकरी**—इसमें साधक बुद्ध का ज्ञान रूपी प्रकाश (प्रभा) संसार में वितरित करता है। इसकी भी तुलना अप्रमत्त संयतगुणस्थान से की जा सकती है।

(४) **अचिन्मती**—इसमें प्रज्ञा अचि (लपट) का काम करती है और बलेशावरण तथा ज्ञेयावरण का दाह करती है। इसमें साधक वीर्य पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना अपूर्वकरण गुणस्थान से की जा सकती है।

(५) **सुदुर्जया**—इसमें धार्मिक भावों की परिपुष्टि तथा स्वचित्त की रक्षा के साथ दुःख पर विजय पायी जाती है। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर होने के कारण इस भूमि को 'दुर्जय' कहा गया है। बोधिसत्व (साधक) इस भूमि में ध्यान पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान की अवस्था से कर सकते हैं।

(६) **अभिमुहो**—साधक प्रज्ञापारमिता के आश्रय से संसार और निर्वाण दोनों के प्रति अभिमुख होता है। उसमें यथार्थ प्रज्ञा का उदय होता है अतः उसमें संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं होता है। और अब संसार उसके लिए बन्धक नहीं रहता। इसमें साधक के निर्वाण की दिशा में अभिमुख होने के कारण इस भूमि को अभिमुखी कहा है। चौथी-पाँचवीं भूमि में प्रज्ञा की साधना होती है और इसमें प्रज्ञा पारमिता की साधना पूर्ण होती है। इस भूमि की तुलना सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान की पूर्वावस्था से की जा सकती है।

(७) **दूरगमा**—इस भूमि में बोधिसत्व (साधक) शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से दूर हो जाता है और बोधिसत्व की साधना पूर्णकर निर्वाण के सर्वथा योग्य हो जाता है। इस भूमि में बोधिसत्व अन्य प्राणियों को निर्वाण मार्ग में लगाता है। स्वयं सभी पारमिताओं का पालन करता है और विशेष रूप से कौशल्य पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना क्षीणमोह गुणस्थान से की जा सकती है।

(८) **अचला**—प्रस्तुत भूमि में संकल्पशून्यता एवं विषय से मुक्त होकर अनिमित्त विहारी समाधि की उपलब्धि होती है। इसलिए इसका नाम 'अचला' है। विषय न होने से चित्त में संकल्प-विकल्प नहीं होते और संकल्प शून्य होने के कारण चित्त अविचल होता है जिससे तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसकी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

(९) **साधुमती**—इस भूमि में बोधिसत्व के हृदय में सम्पूर्ण जीवों के प्रति शुभकामनाएँ अगड़ाइयाँ लेने लगती

हैं और वह प्राणियों के बोधि बीज को परिपुष्ट करता है। इसमें समाधि की विशुद्धता एवं विश्लेषण तथा अनुभव करने वाली बुद्धि जिसे प्रतिसंविन्मति कहा जाता है, उसकी प्रधानता होती है और अन्य प्राणियों के मनोगत भावों को जानने की क्षमता भी उत्पन्न होती है। इसकी भी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

(१०) धर्ममेधा—जैसे अनन्त आकाश मेघ से व्याप्त होता है वैसे ही प्रस्तुत भूमि में समाधि धर्माकाश को व्याप्त कर लेती है। इसमें बोधिसत्व का दिव्य और मव्य शरीर रत्नकमल पर अवस्थित दृग्गोचर होता है। इसकी तुलना समवसरण में विराजित तीर्थंकर भगवान से कर सकते हैं।

ये दस भूमियाँ महायान सम्प्रदाय के दशमभूमि शास्त्र की दृष्टि से हैं। हीनयान से महायान की ओर संक्रमण काल में लिखे हुए महावस्तु में अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) दुरारोहा, (२) बद्धमान, (३) पुष्पमण्डिता, (४) रुचिरा, (५) चित्त विस्तार, (६) रूपमती, (७) दुर्जया, (८) जन्मनिदेश, (९) यौवराज और (१०) अभिषेक। महायान का दस भूमियों का सिद्धान्त इसी मूलभूत धारणा पर अवलम्बित है। असंग के महायान सूत्रालंकार और लंकावतार सूत्र में इन भूमिकाओं की संख्या ११ हो जाती है। महायान सूत्रालंकार में प्रथम भूमि को "अधिमुक्तचर्या" कहा गया है और उसके पश्चात् प्रमुदिता भूमि की चर्चा की गयी है। अधिमुक्तचर्या भूमि में साधक को पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान होता है और यह विशुद्धि की अवस्था है। इसकी तुलना चतुर्थ गुणस्थान से की जा सकती है।

### जैन गुणस्थान और आजीवक भूमिकाएँ

आजीवक सम्प्रदाय का अधिनेता मंखलीपुत्र गोशालक था। भगवती<sup>१००</sup> उपासकदशांग,<sup>१०१</sup> आवश्यक निर्युक्ति<sup>१०२</sup> आवश्यकचूर्ण,<sup>१०३</sup> आवश्यक हारिभद्रियावृत्ति<sup>१०४</sup>, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति,<sup>१०५</sup> महावीरचरिय,<sup>१०६</sup> त्रिषष्टिशलाका पुरुषत्रय चरित्र,<sup>१०७</sup> आदि जैन साहित्य में उसका विस्तार से वर्णन है। वह भगवान महावीर का प्रतिद्वन्द्वी था। सम्राट् अशोक के शिलालेखों से भी आजीवक भिक्षुओं का सम्राट् द्वारा गुफा दिये जाने का उल्लेख है।<sup>१०८</sup> पर यह सम्प्रदाय कब तक चलता रहा यह कहना कठिन है। तथापि शिलालेखों आदि से ई० पू० दूसरी शताब्दी तक उसका अस्तित्व प्रमाणित होता है।<sup>१०९</sup> किन्तु उसका कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता।<sup>११०</sup>

मज्झिमनिकाय में आजीवक सम्प्रदाय के आठ सोपान बताये गये हैं (१) मन्द (२) खिड्डा (३) पदवीमंसा (४) उज्जुगत (५) सेख (६) समण (७) जिन और (८) पन्न। इन आठों का आजीवक सम्प्रदाय के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अर्थ था यह मूल ग्रन्थों के अभाव में कहा नहीं जा सकता। किन्तु आचार्य बुद्धघोष जिनका समय ५-६वीं शती माना जाता है, उन्होंने सुमंगल विलासिनी टीका में आठ सोपानों का वर्णन इस प्रकार किया है—

(१) मन्द—जन्म दिन से लेकर सात दिन तक गर्भ निष्क्रमणजन्य दुःख के कारण प्राणी मन्द (मोमुह) स्थिति में रहता है।

(२) खिड्डा—जो बालक दुर्गति से आकर जन्म होता है वह बालक पुनः-पुनः रुदन व विलाप करता है और जो बालक सुगति से आता है वह बालक सुगति का स्मरण कर हास्य करता है। यह खिड्डा (क्रीडा) भूमिका है।

(३) पदवीमंसा—माता-पिता के हाथ व पैरों को पकड़कर या पलंग अथवा काष्ठ के पाट को पकड़कर बालक पृथ्वी पर पैर रखता है। यह पदवीमंसा भूमिका है।

(४) उज्जुगत—पैरों से स्वतन्त्र रूप से जो चलने का सामर्थ्य आता है वह उज्जुगत (ऋजुगत) भूमिका है।

(५) सेख—शिल्पकला के अध्ययन का समय वह शैक्ष भूमिका है।

(६) समण—घर से निकल कर संन्यास ग्रहण करना, यह समण (श्रमण) भूमिका है।

(७) जिन—आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने का समय जिन भूमिका है।

(८) पन्न—प्राज्ञ बना हुआ भिक्षु (जिन) जब कुछ भी नहीं बोलता है ऐसे निर्लाभ श्रमण की स्थिति यह पन्न (प्रज्ञ) भूमिका है।

प्रो० होर्नले<sup>१११</sup> और पं० सुखलाल जी<sup>११२</sup> आदि का मन्तव्य है कि बुद्धघोष की प्रस्तुत व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस व्याख्या में बाल्यकाल से लेकर युवावस्था तक का व्यावहारिक वर्णन आया है जिसका मेल आध्यात्मिक विकास के साथ नहीं बैठता। सम्भव है इन भूमिकाओं का सम्बन्ध अज्ञान और ज्ञान की भूमिकाओं के साथ रहा हो। इन आठ भूमिकाओं में से प्रथम तीन भूमिकाएँ अविकसित की सूचक हैं और पीछे की पाँच भूमिकाएँ विकास का सूचन करने वाली हैं। उसके पश्चात् मोक्ष होना चाहिये।



इन भूमिकाओं को हम आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान और अज्ञान की भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं तो भी गुण-स्थानों के साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती क्योंकि गुणस्थानों में जिस प्रकार वैज्ञानिक क्रम है उस प्रकार के व्यवस्थित क्रम का इनमें अभाव है।

### गुणस्थान और योग

गुणस्थानों में आध्यात्मिक विकास का क्रम मुख्य है और योग में मोक्ष के साधन का विचार प्रमुख रूप से किया गया है। यद्यपि दोनों का प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् है तथापि एक विचार में दूसरा विचार आ ही जाता है। क्योंकि कोई भी आत्मा सीधा मोक्ष प्राप्त नहीं करता, अपितु क्रमानुसार ही उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अन्त में उसे प्राप्त करता है। इसलिए योग में मोक्ष की साधन रूप विचारधारा में आध्यात्मिक विकास के क्रम का वर्णन आ ही जाता है। आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है इस पर चिन्तन करते हुए आत्मा के शुद्ध शुद्धतर और शुद्धतम परिणाम जो मोक्ष के साधन रूप हैं वे भी इसमें आ जाते हैं।

### योग किसे कहते हैं ?

वैदिक परम्परा में वेद का मुख्य स्थान है। वेदों में भी सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसका अधिकांश भाग आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णनों से भरा हुआ है। वस्तुतः वेदों में आध्यात्मिक वर्णन बहुत ही कम आया है। ऋग्वेद के मन्त्रों में योग शब्द का उपयोग हुआ है।<sup>119</sup> किन्तु वहाँ पर उसका समाधि और आध्यात्मिक भाव विवक्षित नहीं हुए हैं। उपनिषदों में योग पद प्रयुक्त हुआ है।<sup>120</sup> यह स्मरण रखना चाहिए जहाँ उपनिषदों में योग शब्द आया है उसका मुख्य सम्बन्ध सांख्य तत्त्वज्ञान और उससे अवलंबित किसी योग परम्परा के साथ है। महाभारत में अनेक स्थलों पर योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु वहाँ पर भी उसका मुख्य सम्बन्ध सांख्य परम्परा के साथ है।<sup>121</sup> गीता में आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। तिलक ने गीता रहस्य में इसी कारण गीता को योगशास्त्र कहा है। गीता का योग भी सांख्य तत्त्वज्ञान की भूमिका पर प्रतिष्ठित है।<sup>122</sup>

जैन आगम साहित्य में योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।<sup>123</sup> पर वह तप शब्द की तरह व्यापक रूप से विवृत नहीं हुआ। बौद्ध साहित्य में भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु वह समाधि शब्द की तरह व्यापक नहीं बन सका। तथ्य यह है कि जब से सांख्य तत्त्वज्ञान ने आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग विशेष रूप से प्रारम्भ किया तब से प्रायः सभी आध्यात्मिक \* परम्पराओं का ध्यान योग शब्द पर केन्द्रित हुआ और उन्होंने योग शब्द को इस दृष्टि से अपनाया।

योगलक्षण द्वात्रिंशिका<sup>124</sup> में लिखा है—आत्मा का धर्म व्यापार मोक्ष का मुख्य हेतु और बिना विलम्ब से जो फल देने वाला हो वह योग है। जिस क्रिया से आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है, वह योग है। योग शब्द 'युज्' धातु 'घञ्' प्रत्यय मिलने से बनता है। युज् धातु के दो अर्थ हैं—संयोजित करना व जोड़ना।<sup>125</sup> और दूसरा अर्थ है मन की स्थिरता और समाधि।<sup>126</sup> आत्मा का परमात्मा के साथ, जीव का ब्रह्म के साथ संयोग योग है। योग शुभभाव, या अशुभभाव पूर्वक किये जाने वाली क्रिया है।<sup>127</sup> आचार्य पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है।<sup>128</sup> उसका भी तात्पर्य यही है कि ऐसा निरोध मोक्ष का मुख्य कारण है। क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य रूप से शुभ भाव का अवश्य सम्बन्ध उसके साथ होता है।

आत्मा अनादिकाल से इस विराट विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। जब तक आत्मा मिथ्यात्व से ग्रसित रहता है तब तक उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति अशुभ होने से योग वाली नहीं है। और जब मिथ्यात्व नष्ट होता है और सन्मार्ग की ओर वह अभिमुख होता है तब उसका कार्य शुभ भाव युक्त होने से योग कहा जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के नष्ट होने से उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मल भावना को लिये हुए होती है, अतः मोक्ष के अनुकूल होने के कारण वह शुभभाव युक्त होने के कारण योग कहलाती है। उसे जैन परिभाषा में अचरम पुद्गल परावर्त और चरम पुद्गल परावर्त कह सकते हैं। अचरम पुद्गल परावर्त में मिथ्यात्व रहता है, किन्तु चरम पुद्गल परावर्त में मिथ्यात्व शनैः-शनैः हटने लगता है और आत्मा मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ता है। आचार्य पतंजलि ने भी अनादि सांसारिक काल निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति कहा है।<sup>129</sup>

\* योगशतक, प्रस्तावना, डा० इन्दुकला हीराचन्द झवेरी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद पृ० ३५-३६

पतंजलि ने योग के संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो प्रकार बताये हैं।<sup>१२५</sup> असंप्रज्ञात समाधि को वेदान्तियों ने निर्विकल्प समाधि कहा है। पतंजलि ने इसको निर्बीज समाधि भी कहा है क्योंकि उससे नये संस्कार प्रस्फुटित नहीं होते। उससे नीचे की अवस्था संप्रज्ञात समाधि है। इसमें यद्यपि प्रकृति से अपने को भिन्न समझने का ज्ञान साधक के मन में उत्पन्न होता है तो भी यह अवस्था पूर्ण मोक्ष या कैवल्य से नीचे ही है क्योंकि इसमें द्वैत बुद्धि दूर नहीं होती।

जैन दृष्टि से (१) अध्यात्म (२) भावना (३) ध्यान (४) समता और (५) वृत्ति संक्षय ये योग के पाँच भेद हैं।<sup>१२६</sup> जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, जिसके प्राप्त होते ही शीघ्र मोक्ष हो जाता है वही वस्तुतः योग है, जिसे पतंजलि ने असंप्रज्ञात कहा है और जैनाचार्यों ने वृत्तिसंक्षय कहा है। असंप्रज्ञात और वृत्तिसंक्षय आत्मा को सर्वप्रथम प्राप्त नहीं होता किन्तु उसके पूर्व उसे विकास के अनेक कार्य करने होते हैं। और उत्तरोत्तर विकास कर वास्तविक योग—असंप्रज्ञात या वृत्तिसंक्षय तक पहुँचता है। उसके पूर्व की अवस्थाएँ संप्रज्ञात और जैनदृष्टि से अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता है जो मिथ्यात्व के नष्ट होने पर प्राप्त होती हैं।

आचार्य पतंजलि ने योग के अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय बताये हैं। वैराग्य के पर और अपर ये दो प्रकार हैं।<sup>१२७</sup> उपाध्याय यशोविजयजी ने अपर वैराग्य को अतात्त्विक धर्म संन्यास और पर-वैराग्य को तात्त्विक धर्म-संन्यास योग कहा है।<sup>१२८</sup>

संप्रज्ञात योग में जैनदृष्टि से अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता होने से हम उसकी तुलना चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के साधकों के साथ कर सकते हैं और असंप्रज्ञात में वृत्ति संक्षय होता है अतः उसकी तुलना तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान से की जा सकती है।<sup>१२९</sup>

उपर्युक्त पंक्तियों में बहुत ही संक्षेप में हमने गुणस्थानों के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। विस्तार मय से उनके भेद-प्रमेद और अन्य दर्शनों के साथ उनके प्रत्येक पहलुओं पर विचार न कर संक्षेप में ही एक झंकी प्रस्तुत की है, जिससे प्रबुद्ध पाठक गुणस्थानों के महत्त्व को समझ सकते हैं। गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के सोपान हैं। आत्मा मिथ्यात्व से किस प्रकार निकलकर अपनी प्रगति कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवस्था को प्राप्त करता है उसका वैज्ञानिक विश्लेषण गुणस्थान में है। आचार्य हरिभद्र ने मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रमा और परा इन आठ योग-दृष्टियों के साथ गुणस्थानों की तुलना की है। इससे स्पष्ट है कि गुणस्थानों का आध्यात्मिक दृष्टि से कितना महत्त्व है।

#### सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ समवायाङ्ग १४वां समवाय

२ गुणठाणा य जीवस्स—समयसार, गा. ५५

३ प्राकृत पद्य संग्रह, १।३-५

४ नमिय जिणं जिअमग्गण, गुणठाणुवओग-लोग लेसाओ। बंधप्प बहूभाने सखिज्जाई किमवि वुच्छं.....॥

—कर्म-ग्रन्थ, ४।१

५ जेहि तु लक्खिज्जंते उदयादिमु सम्भवेहि भावेहि।

जीवा ते गुणसण्णा णिट्ठा सव्वदरिसीहि॥

—गोम्मटसार, गाथा ७

६ चउहस जीवसमासा कमेण सिद्धा यं णादव्वा।

—गोम्मटसार, गाथा १०

७ जीवसमास इति किम्, ? जीवाः सम्यगासतेऽस्थिति जीव समासः।

क्वा सते ? गुणेषु। के गुणाः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमनिका, कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः तेषामुपशमादौपशमिकः क्षयात्क्षायिकः तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुणसहचरितत्वादात्मापि गुण संज्ञा प्रतिलभते।

—षट्खण्डागम, धवलावृत्ति प्रथम खण्ड, २-१६-६१

८ संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोह जोगमवा—

—गोम्मटसार, गाथा ३





- ९ इह सुहृमबायरेगिदिबित्तिचउ असन्निसन्नि पंचिदी ।  
अपज्जता पज्जता कमेण चउदस जियट्ठाणा ।  
—कर्मग्रन्थ ४।२
- १० समवायाङ्ग १४।१
- ११ कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवठाणा पन्नत्ता ।  
—समवायाङ्ग १४।१
- १२ कर्मविशोधिमारगणां प्रतीत्य—ज्ञानावरणादिकर्मविशुद्धि गवेषणामाश्रित्य ।  
—समवायाङ्ग वृत्ति, पत्र २६
- १३ एदे भावा णियमा, दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु ।  
चारित्तं णत्थि जदो अविरद अन्तेसु ठाणेसु ॥  
देसविरदे पमत्ते, इदरे य खओ बसमियमानो हु ।  
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तथा उबरि ॥  
—गोम्मटसार, गा० १२-१३
- १४ मच्चमोहायथा जीवो न जानाति हिताहितम् ।  
धर्माधर्मो न जानाति तथा मिथ्यात्वमोहितम् ।  
—गुणस्थान क्रमारोह० गा० ८
- १५ तत्त्वार्थभाष्य ८।१
- १६ आवश्यकचूर्णि अ० ६, गा० १६५८
- १७ प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह १।७
- १८ गुणस्थान क्रमारोह० गा० ६ की वृत्ति
- १९ कर्मग्रन्थ भाग ४ गा० ५१, पृ० १७५
- २० धर्मसंग्रह पृ० ४०
- २१ कर्मग्रन्थ ४, हिन्दी, पृ० १७६
- २२ लोक प्रकाश, सर्ग ३, गा० ६८६
- २३ इत्यत्रापि येदकमनाभोगिक मिथ्यात्वं तदव्यक्तं शेषमिथ्यात्वचतुष्टयं तु व्यस्तमेन ।  
—गुणस्थान क्रमारोह० स्वोपज्ञ वृत्ति, ६
- २४ दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तं जहा, अधम्मे धम्म सन्ता, धम्मे अधम्मसन्ता, उम्मग्गो मग्गसन्ता, मग्गे उम्मग्गसन्ता, अजीवेसु जीव सन्ता, जीवेसु अजीव सन्ता, असाहु सु साहु सन्ता, साहुसु असाहुसन्ता, अमुक्तेसु मुक्त सन्ता, मुक्तेसु अमुक्त सन्ता । इत्येवमादिकमपि यन्मिथ्यात्वं तद्व्यक्तमेव अपरं तु यदनादिकालं यावन्मोहनीयप्रकृति रूपं, मिथ्यात्वं सदृशरूपपात्यगुणाच्छादकं जीवेन सह सदाऽविनाभावि भवति, तदव्यक्तं मिथ्यात्वमिति ।  
—गुणस्थान क्रमारोह० वृत्ति, पृ० ४
- २५ अंगुत्तर निकाय १/१०, १/१७, १/१८
- २६ मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं एयत्तां विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥  
—गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. १५.
- २७ न मिथ्यात्व पंचक नियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभहितं पंचविधं मिथ्यात्वमिति ।  
—धवला टीका
- २८ अभव्याश्रित मिथ्यात्वे अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत् ।  
सा भव्याश्रिता मिथ्यात्वे अनादि सान्ता पुनर्भता ॥  
—गुणस्थान क्रमारोह ६  
—आचार्य देवचन्द्र लोकप्रकाश—उपा०, विनयविजय
- २९ कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा ३
- ३० परिणाम विशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम् ।
- ३१ गाथि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणसूण गूढं गठिब्ब ।  
जीवस्स कम्म जणिओ, घणरागदोस परिणामो ।  
—विशेषावश्यक भाष्य
- ३२ (क) विशेष विवरण के लिए देखिए—विशेषावश्यकभाष्य १२०२ से १२१८  
(ख) प्रवचन सारोद्धार, द्वार २२४, गा० १३०२ टीका  
(ग) कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा, २
- ३३ (क) सहाय्ये तत्त्वश्रद्धान रसास्वादानेन वर्तते इति सास्वादनः घण्टालालान्यायेन प्रायः परित्यक्त-सम्यक्त्वः तदुत्तरकालं षडावलिकः तथा चोक्तम्—  
उवसमसंमत्ताओ चयओ मिच्छं अपानमाणस्स ।  
सासायणसंमत्तं तदंतरालंमि छावलियं ॥१॥  
इति सास्वादानस्वासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति विग्रहः ।  
—समवायाङ्ग वृत्ति, पत्र २६



- (ख) समयादवली षट्कं, यावन्मिथ्यात्वभूतम् ।  
नासादयति जीवोऽसं, तावत्सास्वादनो भवेत् ॥ —गुणस्थान क्रमारोह १२
- ३३ आसादनं सम्यक्त्व विराधनम्, सह आसादनेन वर्त्तत इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनो ऽ प्राप्तमिथ्यात्व कर्मो-  
दय जनित परिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते । —षट्खण्डागम, धवलवृत्ति प्रथम खण्ड, पृ० १६३
- ३४ गुणस्थान क्रमारोह ११
- ३५ (क) नरयतिग जाइथावरचउ, हूंढायवछेवठुन पुंमिच्छं ।  
सोलं तो इगहि असयं, सासणि तिरिधीण दुहगतिगं ॥ —कर्मग्रन्थ भाग २ गा० ४
- (ख) गुणस्थान क्रमारोह० स्वोपज्ञ वृत्ति ।
- ३६ (क) मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः ।  
यो भावोऽन्तर्मुहुत्तं स्यान्तन्मिश्रस्थानमुच्यते ॥ —गुणस्थान क्रमारोह १३
- (ख) तथा सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्या-दृष्टिः तस्य गुणस्थानं सम्यग् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम् ॥  
—कर्मग्रन्थ २, स्वोपज्ञवृत्ति पृ० ७०
- (ग) सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतर सब्बधादिकज्जेण ।  
णय सम्मं मिच्छंपि य सच्चिस्सो होदि परिणामो ॥ —गोम्मटसार, जीवकांड, गा० २१
- ३७ जात्यन्तर समुद्भूतिबंधवारवरयोयथा ।  
गुडदध्नोः समायोगे रसभेदान्तरं यथा ।—गुणस्थान क्रमारोह १४
- ३८ गुणस्थान क्रमारोह गा० १३.  
आयुर्बंधनापि नो जीवो मिश्रस्थो भ्रियते न वा ।
- ३९ सद्दृष्टिर्वा कुदुष्टिर्वा भूत्वा मरण मश्नुते ।—गुणस्थान क्रमारोह १६
- ४० सो संजयं ण गिण्हदि, देसजयं वा ण बंध दे आउं ।  
सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥ —गोम्मटसार गा० २३
- ४१ मूल शरीर को बिना छोड़े ही आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना समुद्धात है । उसके सात भेद हैं—वेदना, कषाय, वैक्रयिक, मारणांतिक, तैजस, आहार और केवल । मरण से पूर्व होने वाले समुद्धात को मारणांतिक समुद्धात कहते हैं ।  
—बृहद्ब्रह्म्य संप्रह गा० १०
- ४२ (क) सम्मत्तमिच्छपरिणामेषु जहि आउगं पुरा बद्धं ।  
तहि मरणं मरणंतसमुग्धादो वि य ण निस्सम्मि ॥ —गोम्मटसार गा० २४
- (ख) सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये, ह्यायुर्येनाजितं पुरा ।  
भ्रियते तेन भावेन, गतिं याति तदाश्रिताम् ॥ —गुणस्थान क्रमारोह १७
- ४३ (क) कर्मग्रन्थ भाग २, गा० ४-५—देवचन्द्र रचित ।  
(ख) गुणस्थान क्रमारोह १७
- ४४ अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्वोऽभिधीयते ।  
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते । —योग विन्दु २७०
- ४५ बोधो ज्ञाने सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्वः ॥ —बोधिपंजिका ४२१, उद्धृत बौद्ध-दर्शन, पृ० ११७
- ४६ यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः ।  
सत्वोऽस्तु बोधिसत्व स्तद्धन्तैषेज्ज्वर्यतोऽपि हि ॥  
वरबोधि समेतो वा तीर्थकूधो यो भविष्यति ।  
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्वः सतां मतः ॥ —योग विन्दु २७३-२७४
- ४७ जो अविरओऽविसंघे, भत्तिं तित्युण्णइं सया कुणइ ।  
अविरय सम्महिट्ठी, प्रभावगो सावगो सोवि ॥ —गुणस्थान क्रमारोह० वृत्ति गा० २३ की वृत्ति ।
- ४८ कर्मग्रन्थ भाग २, गा० ६
- ४९ असंजद सम्माइट्ठी —षट्खण्डागम १।१।१२
- ५० णो इन्दियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि ।  
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ —गोम्मटसार गा० २६





- ५१ संजदासंजदा —षट्खण्डागम १।१।१३
- ५२ जो तसवहाउविरदो, अविरदो तहय थावरवहादो ।  
एकक समयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेककर्मई ॥ —गोम्मटसार गा० ३१
- ५३ उपासकदशाङ्ग अ० १
- ५४ कर्मग्रन्थ माग २, गा० ६
- ५५ —विकहा कहा कसाया इंदियणिदा तहेव पणयो य ।  
—चदु चदु पणभेगेगं, होति पयादा हु पण्णारस ॥ —गोम्मटसार गा० ३४
- ५६ कर्मग्रन्थ गा० ७
- ५७ कर्मस्तव पृ० २८१, मेहसाणा संस्करण
- ५८ प्रमत्तसंयतः प्राप्तसंयतः प्राप्तसंयतो यः प्रमाद्यति ॥  
सोऽप्रमत्तसंयतो यः संयमी न प्रमाद्यति ।  
उभावपि परावृत्त्या स्यातामान्तमुहूर्तिको ॥ —योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश ३४-३५
- ५९ इत्येतैः प्रमादैद्युवतत्वात् क्व सति ? चतुर्थानां कषायाणं संज्वलनाख्यकषायाणं तीव्रोदये सति, अयमर्थः यदा मुने-  
मंहाव्रतिनोऽपि संज्वलन कषायरतीव्रो भवति, तदाऽवश्यमन्तमुहूर्तं कालं यावत्सप्रमादत्वात् प्रमत्त एव भवति यदा  
अन्तमुहूर्तादुपरि सप्रमादो भवति तदा प्रमत्त गुणस्थानदधस्तात्पतति, यदा त्वन्तमुहूर्ताद्दुर्ध्वमपि प्रमाद रहितो  
भवति तदा पुनरपि अप्रमत्त गुणस्थानमारोहतीति । —गुणस्थान क्रमारोह स्वोपज्ञवृत्ति २७ पृ० २०  
—सर्वार्थसिद्धि वृत्ति
- ६० प्रमत्तसंयतादि क्षीण कषायान्तानामुत्कृष्टः कालः अन्तमुहूर्तः ।
- ६१ कर्मस्तव पृ० २८१, मेहसाणा संस्करण
- ६२ पमत्त संजयस्स णं भंते ! पमत्त संजये वट्टमाणस्स सव्वावि य णं पमत्तद्धा कालओ केवाच्चिरं होइ ?  
मंडियपुत्ता ! एगजीवं पडुच्च जहन्नेणं एकं सययं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोट्टी, णाणा जीवे पडुच्च सब्बद्धा ।  
—भगवती ३।४।१५३, सुत्तागमे पृ० ४५८
- ६३ भगवती ३।४।१५३
- ६४ सव्वावि य णं पमत्तद्धा, त्ति सर्वाऽपि च सर्वकाल सम्भवाऽपि च “प्रमत्ताद्धा” प्रमत्तगुणस्थानकालः ‘कालतः’,  
प्रमत्ताद्धासमूह लक्षणं कालमाश्रित्य “कियच्चिरं” कियन्तं कालं यावद्भवतीति प्रश्नः, न तु कालत इति वाच्यं,  
कियच्चिरमित्यनेनैव गतार्थत्वात्, नैवं क्षेत्रत इत्यस्य व्यचछेदार्थत्वात् भवति हि क्षेत्रतः कियच्चिरमित्यपि प्रश्नः  
यथाऽवधिज्ञानं क्षेत्रतः कियच्चिरं भवति ? त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, कालतस्तु सातिरेका षट्षष्टिरिति “एकं समयं”  
ति कथम् ? उच्यते, प्रमत्तसंयम प्रतिपत्ति समयसमन्तरमेव मरणात् ‘देसूणा पुव्वकोटि’ “त्ति किल प्रत्येकमन्तमुहूर्तं-  
प्रमाणे एव प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके ते च पर्यायेण जायमाने देशोनपूर्वकोटि यावदुत्कर्षेण भवतः, संयमवतो हि पूर्व-  
कोटिरेव परमायुः, स च संयममष्टासु वर्षेषु गतेष्वेव लभते, महान्ति चाप्रमत्तान्तमुहूर्तापिक्षया प्रमत्तान्तमुहूर्तानि  
कल्पयन्ते, एवं चान्तमुहूर्त्तप्रमाणानां प्रमत्ताद्धानां सर्वासां मलिनेन देशोना पूर्वकोटि कालमानं भवति, अन्ये त्वाहुः—  
अष्टवर्षीनां पूर्वकोटि यावदुत्कर्षता—प्रमत्त संयतता स्यादिति । एवमप्रमत्तसूत्रमपि, नवरं “जहन्नेणं अंतोमुहूर्तं” त्ति  
किलाप्रमत्ताद्धायां वर्तमानस्यान्तमुहूर्त्तमध्ये मृत्युर्न भवतीति, चूणिकारमतं तु प्रमत्तसंयतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽ-  
प्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात् स चोपशम श्रेणो प्रतिपद्यमानो मुहूर्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यत इति,  
देशोनपूर्वकोटी तु केवलिनमाश्रित्येति ।  
—भगवती अभयदेव वृत्ति श० ३-३३, सू० १४४, पृ० १८५, आगमोदय समिति ।
- ६५ (क) मोक्षमार्ग, पृ० ८१ जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना  
(ख) सम्यग्दर्शन— डा० एल० के० गांधी, पृ० ६३ शामजी वेलजी बीराणी, राजकोट
- ६६ निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः —षट्खण्डागम, प्रथम भाग, धवला वृत्ति, पृ० १८३
- ६७ निवृत्ति—यद्गुणस्थानकं समकालप्रतिपन्नानां जीवानामध्यवसायभेदः तत्प्रधानो बादरो बादरसम्परायो निवृत्ति  
बादरः —समवायाङ्ग वृत्ति, पत्र २६
- (ख) भिन्नसमयट्टिएहि दु जीवेहि ण होदि सव्वदा सरिसो ।  
करणेहि एकक समयट्टिएहि सरिसो विसरिसो वा । —गोम्मटसार, पृ० ५२
- ६८ गोम्मटसार गा० ५०

- ६६ द्वितीया पूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।  
आयोज्य करणाद्पूर्वं द्वितीया इति तद्विदः ॥
- ७० गोम्मटसार गा० ५१
- ७१ कर्मग्रन्थ भाग २, गा० ६—१०
- ७२ षट्खण्डागम, धवलावृत्ति, पृ० १८३-१८४
- ७३ कर्मग्रन्थ भाग २, गा२ ११
- ७४ गोम्मटसार गा० ६१
- ७५ गोम्मटसार गा० ६२
- ७६ गुणस्थान क्रमारोह
- ७७ “विश्रुतश्चक्षुरत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरत विश्वतस्यात् ॥”  
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-३, ११-१५
- ७८ सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।  
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ।  
—भगवद्गीता १३, १३
- ७९ पातंजल योग-दर्शन पाद ३, सूत्र २२वां का भाष्य और वृत्ति तथा पाद ४ सूत्र ४ का भाष्य और वृत्ति
- ८० सजोग केवली — षट्खण्डागम १।१।२१
- ८१ अयोग केवली — षट्खण्डागम १-१-२२
- ८२ अन्ये तु मिथ्यादर्शनानि भावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादि—परिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादि परिण-  
मस्तु परमात्मा ।  
—अध्यात्ममत परीक्षा गा० १२५
- ८३ बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः ।  
कायाधिष्ठायक ध्येया प्रसिद्ध योग वाङ्मये ॥  
अन्य मिथ्यात्व सम्यक्त्व केवलज्ञान भागिनः ।  
मित्ते च क्षीणमोहे च विश्रान्तात्ते त्वयोगिनी ॥  
—योगावतार द्वात्रिंशिका १७-१८
- ८४ (क) योगावतार द्वात्रिंशिका १५-२१  
(ख) परमात्म—प्रकाश १३-१४, १५
- ८५ योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११७ श्लोक २ से २४
- ८६ ‘दर्शन अने चिन्तन’ भाग दो, पृ० ११६
- ८७ ‘योगवासिष्ठ’ उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८, श्लोक ५।१५
- ८८ ‘जैन आचार’ —डॉ० मोहनलाल मेहता, पृ० ३६ ।
- ८९ योग-दर्शन—व्यास महाभाष्य
- ९० पातंजल-दर्शन, पाद १, सूत्र १, व्यास भाष्य तथा वाचस्पति मिश्र की टीका ।
- ९१ भगवद्गीता—डॉ० राधाकृष्णन पृष्ठ ३१३ ।
- ९२ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ।  
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ —गीता १४।५
- ९३ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।  
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ —गीता ७।१३
- ९४ न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।  
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥  
—गीता ७।१५
- ९५ सर्वद्वाराणि संयम्य मनोर्दधि निरुध्य च ।  
मूर्धन्याधियात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणाम् ॥  
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्त्या मनुस्मरन् ।  
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥  
—गीता ८/११-१३
- ९६ दुवे पुथुज्जना वुत्ता बुद्धेनादिच्च बंधुना ।  
अंधो पुथुज्जनो एको कल्याणको पुथुज्जनो ॥  
—मज्झिमनिकाय, मूल परियाय, सुत्तवण्णना ।
- ९७ देखिए—‘योगशास्त्र’—आचार्य हेमचन्द्र, प्रकाश,
- ९८ विनय पिटक-चुल्लवग्ग-खन्दक ४-४



- ६६ भगवतीशतक १५
- १०० उपासकदशांग अ० ६ व ७
- १०१ आवश्यक नियुक्ति ४७४ से ४७८
- १०२ आवश्यकचूर्ण-प्रथम भाग, पत्र २८३-२८७
- १०३ आवश्यक हारिभद्रियावृत्ति, पृ० २०६
- १०४ आवश्यक मलयगिरिवृत्ति पूर्व भाग, पत्र सं २७७ से २७८
- १०५ महावीरचरियं ६-१६४ से
- १०६ त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व—१
- १०७ अशोक के धर्मलेख—जनार्दन भट्ट-पब्लिकेशन्स डिविजन, दिल्ली १६५७, पृ० ४०१-४०३
- १०८ उत्तर हिन्दुस्तान मां जैन धर्म, चिमानलाल जयचन्द शाह—लांग मैन्स एण्ड कं०, लन्दन, १६३०, पृ० ६४
- १०९ दर्शन और चिन्तन—गुजराती भाग २, पं० सुखलाल जी संघवी, पृ० १०२१
- ११० उपासकदशा का अनुवाद, प्रो० होर्नले, भाग २, परिशिष्ट, पृ० २३
- १११ दर्शन अने चिन्तन, भाग २, पृ० १०२२
- ११२ ऋग्वेद १।३।४।६; २।८।१, ६।५।८।३; १०।१६।६।५; १।१।८।७; १।५।३
- ११३ (क) योग आत्मा —तैत्तिरीय उपनिषद् २।४
- (ख) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।  
अप्रमत्तस्तदा भवति योगे हि प्रमवाप्ययी ॥ —कठोपनिषद् २।६।११
- (ग) तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ —श्वेताश्वतर उप० ६।१३
- (घ) अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षं शोकौ जहाति । —कठोपनिषद् १।२।१२
- ११४ महाभारत में २४, २५ एवं २६ तत्त्व मानने वाली सांख्य परम्परा का वर्णन है ।
- ११५ गीता ४।२८; ३।३-४; ५।६-७; ६।१७;—२३-२६;  
६।४-६, ८।१०-२, गीता रहस्य भाग २ की शब्द सूची देखें ।
- ११६ (क) सूत्रकृताङ्ग १।६।३
- (ख) उत्तराध्ययन ८।१४; ११।१४
- ११७ मोक्षेण योजनादेव योगोह्यत्र निरुच्यते ।  
लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतुव्यापारतास्य तु ॥ —योगलक्षण द्वात्रिंशिका ।
- (ख) मोक्षेण योजनाद् योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् । —योगबिन्दु ३१, हरिभद्र
- ११८ युजुपी योगे, गण—७ हेमचन्द्र धातुपाठ
- ११९ युजिच समाधौ, गण—४, हेमचन्द्र धातुपाठ
- १२० योगलक्षण द्वात्रिंशिका १०, १६
- १२१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । —पातंजल योगसूत्र पा—१, स-२
- १२२ अपुनर्बन्धद्वात्रिंशिका—१४
- १२३ पातंजल योग-दर्शन पाद १, सूत्र १७-१८
- १२४ योगभेदद्वात्रिंशिका—१
- १२५ पातंजल योग दर्शन पाद १, सूत्र १२, १५ और १६
- १२६ विषय दोष-दर्शनजनित भयातधर्म संन्यासलक्षणं प्रथमम् स तत्त्वचिन्तया विषयीदासीन्येन जनितं द्वितीया पूर्व-  
करणभावित्वात्त्विक-धर्मसंन्यास लक्षणं द्वितीयं वैराग्यं यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्त  
इत्यस्माकं सिद्धान्तः ॥” —श्री यशोविजयजी कृत पातंजल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६
- १२७ संप्रज्ञातोऽवतरित, ध्यानभेदोऽत्र तत्त्वतः ।  
तात्त्विकी च समापत्तिर्नात्मनो भाव्यतां विना ॥१५॥  
'असम्प्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः ।  
सर्वतोऽस्मादकरणनियमः पापगोचरः ॥२१॥ —योगावतार द्वात्रिंशिका